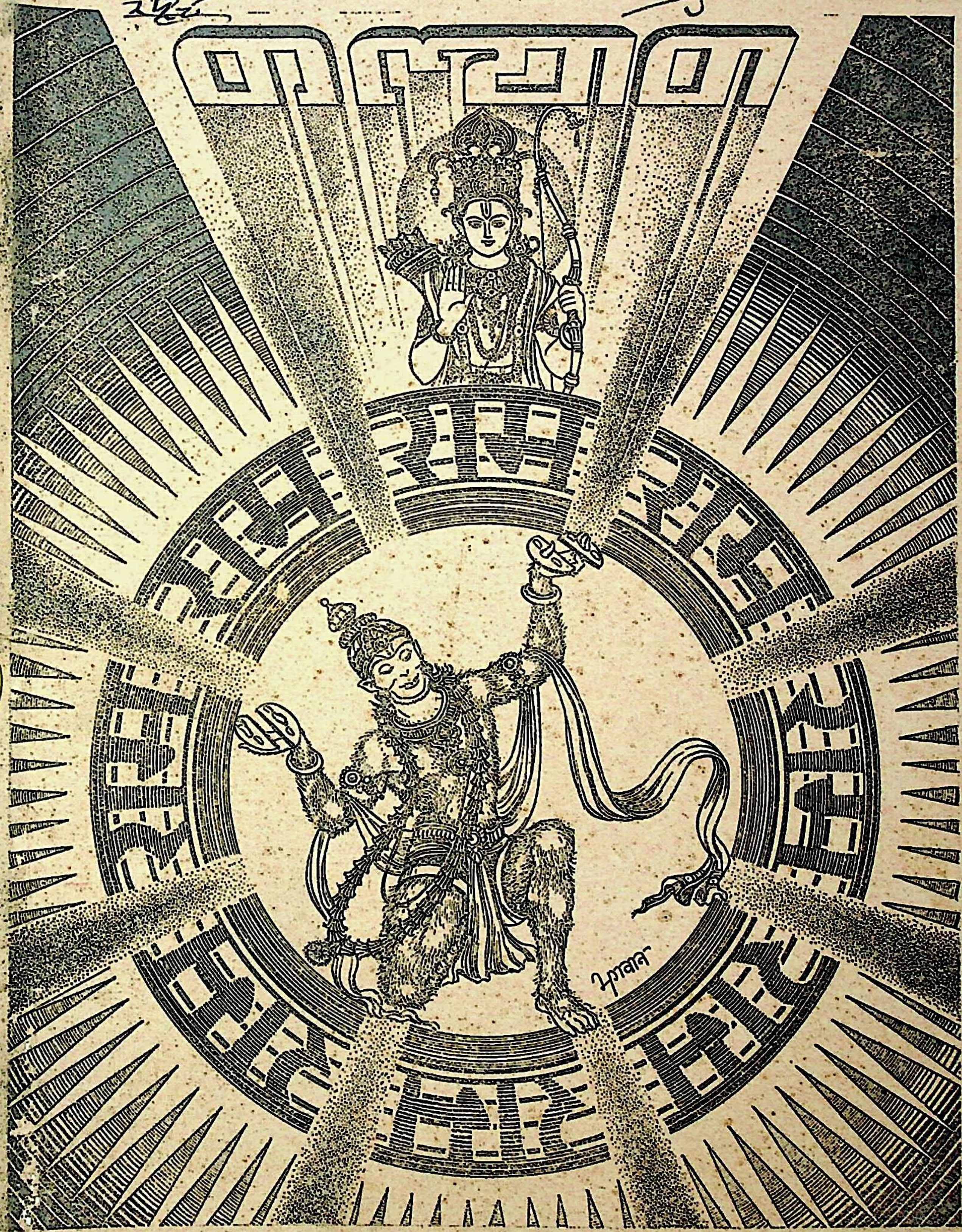


वर्ष २३]   [संख्या १२

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियाराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष, दिसम्बर सन् १९४९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—ज्ञानखड्ग [कविता] (श्रीमद्भगवद्गीता)	१४१७
२—कल्याण ('शिव')	१४१८
३—समयकी सार्थकता (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१४१९
४—राम-रंग [कविता] (श्रीनयनजी)	१४२६
५—योग और परकाय-प्रवेश (महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०)	१४२७
६—उनका पता [कविता] (बाबा श्रीमङ्गलदासजी)	१४३१
७—भौतिक और आध्यात्मिक धन (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)	१४३२
८—उपनिषद्-अध्ययनके लिये अपेक्षित दृष्टिकोण (श्रीजीन हर्बर्ट)	१४३६
९—भक्तिके भेद (पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०, एम्० आर्० ए० एस्०)	१४३९
१०—बावरी गोपी (प्रेमभिखारी)	१४४१
११—आत्म-दान (साधुवेषमें एक पथिक)	१४४४
१२—श्रीरामनामामृतम् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	१४४६
१३—राम-भजन [कविता] (महात्मा जयगौरीशङ्कर सीताराम)	१४४९
१४—भगवान्के शीघ्र मिलनमें भाव ही प्रधान साधन है (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१४५०
१५—अमूढ़ [कहानी] (श्री 'चक्र')	१४५२
१६—रामभक्तके लक्षण [कविता] (सङ्कलित—दोहावली)	१४५६
१७—ईश्वर ही जानता है (श्रीलेस्ले ई० डन्किन)	१४५७
१८—भजन कर ले [कविता] (श्रीकबीरदासजी)	१४५८
१९—पूर्वजन्म तथा कर्मफल	१४५९
२०—राम प्रेम मूरति तनु आही (पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)	१४६१
२१—भजन बिना देह व्यर्थ है [कविता] (श्रीसूरदासजी)	१४६४
२२—मानस-नवाह्नके विश्राम (श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)	१४६५
२३—कामके पत्र	१४६७
२४—आश्चर्यजनक सत्य दैवी घटनाएँ	१४७७
२५—कैसे सामवेद गावैगो [कविता] (श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')	१४८०

चित्र-सूची

तिरंगा

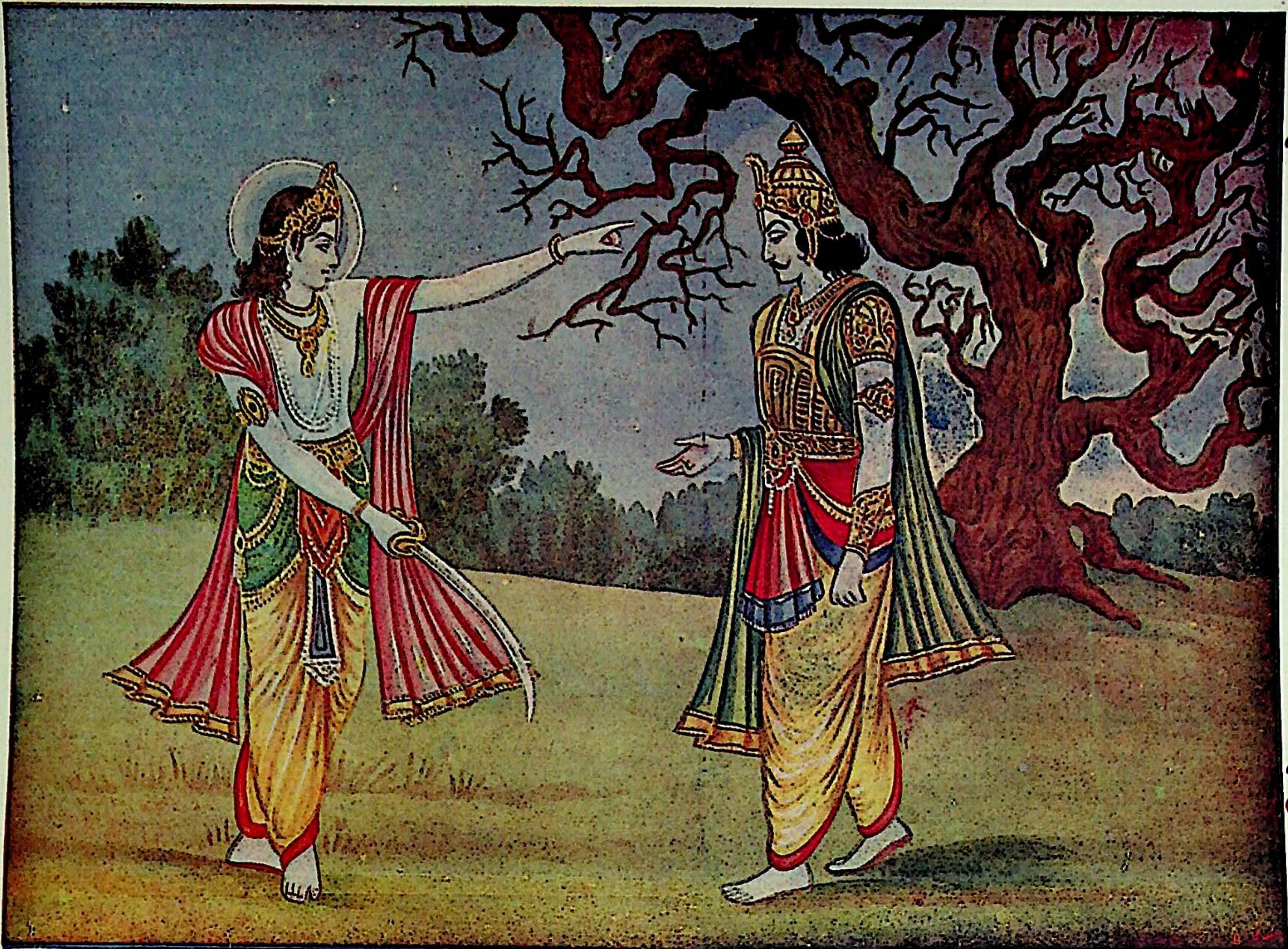
१—ज्ञानखड्ग	१४१७

वार्षिक मूल्य भारतमें ६≡) विदेशमें ८॥≡) (१३ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

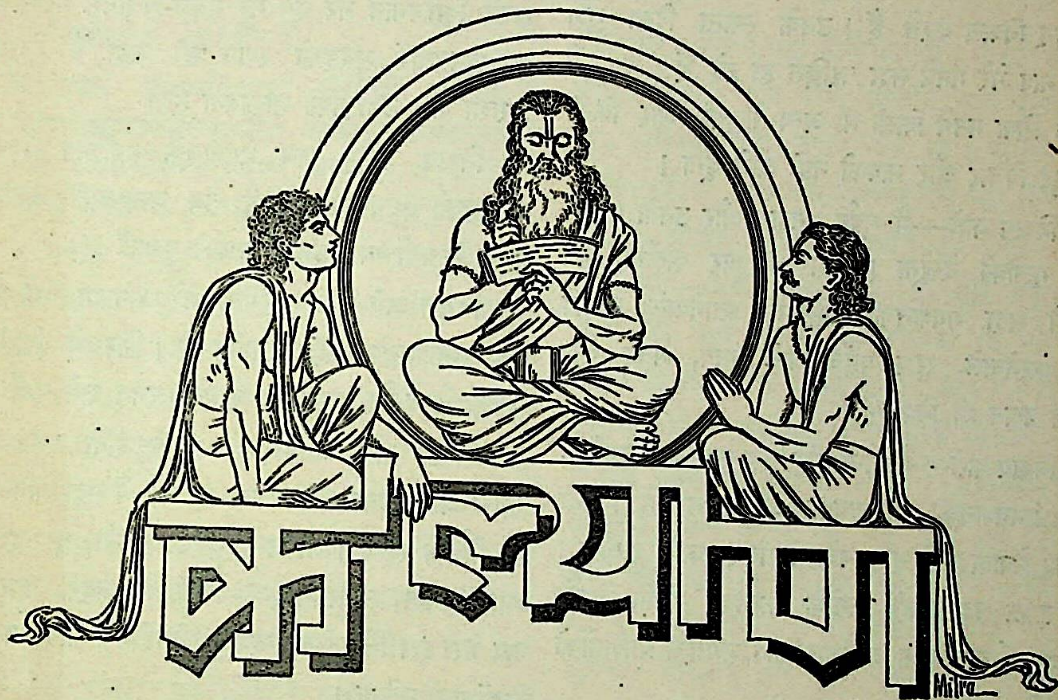
साधारण प्रति भारतमें ।=) विदेशमें ॥-) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर



ज्ञानखड्ग

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने । कालिन्दीकूललीलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥
वल्लवीनयनाम्भोजमालिने नृत्यशालिने । नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

वर्ष २३ | गोरखपुर, सौर पौष २००६, दिसम्बर १९४९ | संख्या १२
पूर्ण संख्या २७७

ज्ञानखड्ग

भारत ! अब ज्ञानखड्ग लो धार ।
हृदयस्थित अज्ञानजनित संशयका करो सँहार ॥
हो स्थित नित्य समत्व-योगमें, छोड़ो अन्य विचार ।
उठो-उठो, रणमें तत्पर हो, करो वीर-व्यवहार ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता)

निश्चय करो—मेरे मनमें सदा-सर्वदा मङ्गलमय भगवान् निवास करते हैं। उनके समस्त दिव्य गुण और भाव मेरे मनमें सदा तरङ्गित हो रहे हैं। अब मैं उनके सिवा मनमें किसी भी अन्य वस्तुको और किसी भी बुरे विचार और भावको नहीं आने दूँगा।

निश्चय करो—मैं सर्वत्र भगवान् और उनके मङ्गल-मय भावोंको देखूँगा। सदा सद्विचार करूँगा, मेरे मुखसे सदा भगवान्की महिमाको बतानेवाले, सबका हित करनेवाले, सुख पहुँचानेवाले सत्य, मधुर और पवित्र वचन ही निकलेंगे।

निश्चय करो—मैं कभी कोई ऐसा काम नहीं करूँगा, जो श्रीभगवान्की प्रसन्नताका कारण न हो। सदा उनकी सेवाके लिये ही उनके प्रीतिकर कर्म करूँगा। मेरी इच्छा सदा उन्हीं कर्मोंके करनेकी होगी, जिनसे भगवान् और उन्हींके अभिव्यक्त रूप जगत्के प्राणियोंको सुख होता हो।

निश्चय करो—मुझे कभी भी सद्विचार तथा सत्कर्म-को छोड़कर अन्य किसी भी विचार तथा कर्मके लिये अवकाश ही नहीं मिलेगा। मन तथा शरीर नित्य भगवान्की सेवामें ही लगे रहेंगे। एक क्षणका भी सेवा-वियोग मुझको सहन नहीं होगा।

निश्चय करो—मेरा कभी कोई अमङ्गल नहीं हो सकता, मेरा कभी कोई बुरा नहीं कर सकता। क्योंकि सभीमें सभी समय मेरे भगवान् ही निवास करते हैं और मेरे लिये जो कुछ भी, जिस किसीके द्वारा भी होता है, सब भगवान्के मङ्गलमय विधानसे मेरे मङ्गलके लिये ही होता है।

निश्चय करो—संसारमें मुझको कोई भी मनुष्य या घटना कभी भी निराश या उदास नहीं कर सकते; क्योंकि मेरे परम सुहृद् भगवान् नित्य स्वाभाविक ही मेरा मङ्गल करते रहते हैं। और जब सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र विराजमान मेरे प्रभु मेरे मङ्गल-विधानमें संलग्न हैं, तब सफलतामें संदेहको स्थान ही कहाँ है, जिससे निराशा और उदासीकी सम्भावना हो।

निश्चय करो—जब भगवान्के मङ्गलमय राज्यमें अमङ्गलको स्थान ही नहीं है, तब अमङ्गलकी कल्पना करके मैं क्यों व्यर्थ ही अमङ्गलको बुलाऊँ?

निश्चय करो—जब सभीमें मेरे भगवान् भरे हैं, तब सभी मङ्गलसे ही ओतप्रोत है। फिर मैं किसीमें अमङ्गलके दर्शन करके इस सत्यका हनन क्यों करूँ?

निश्चय करो—जब सर्वत्र और सदा मङ्गल-ही-मङ्गल और आनन्द-ही-आनन्द है, तब मैं सदा आनन्दमें ही निमग्न रहूँगा। जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—किसी भी बाहरी अवस्था-का मेरी इस नित्य आनन्दमयी स्थितिपर कोई प्रभाव नहीं पड़ सकेगा।

याद रक्खो—यहाँ जो तुम्हें दोष, दुःख, अमङ्गल तथा अशुभ दीखता है, वह इसीलिये दीखता है कि तुम सदा सर्वत्र नित्य मङ्गलमय और आनन्दमय भगवान्को नहीं देख पा रहे हो। यहाँ जो कुछ ऊपरसे दीखता है—वह उन मङ्गलमय भगवान्के ही विभिन्न छद्मवेष हैं। उन्हींकी लीलाके विविध दृश्य हैं। इनकी आड़में नित्यानन्द घनस्वरूप भगवान् सदा विराजमान हैं।

याद रक्खो—तुम अशुभकी कल्पना करते हो, इसीसे तुम्हें दुःख होता है। किसी भी अशुभसे अशुभ कहे और माने जानेवाले पदार्थ और भावमें भी, गहराईसे देखोगे तो, तुम्हें परम शुभ और परम सुखरूप भगवान् छिपे दिखायी देंगे। जहाँ जाओ, जहाँ देखो, उन्हें ही देखनेका प्रयत्न करो। अपनी तीक्ष्ण दृष्टिसे उन्हींका अनुसन्धान करो। उन्हें पहचान लो और निहाल हो जाओ।

'शिव'

समयकी सार्थकता

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

श्रीभर्तृहरिजी कहते हैं—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

'सूर्यके उदय और अस्त—गमनागमनके द्वारा दिन-प्रतिदिन आयु नष्ट होती जा रही है; किंतु व्यापार-व्यवहारसम्बन्धी अनेक गुरुतर कार्यभारोंके कारण मनुष्यको इसका पता नहीं रहता कि कितना समय बीत गया और उसे जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति तथा मृत्युको देखते हुए भी उनसे भय उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार यह समस्त जगत् प्रमादरूपी मोहमयी मदिराको पीकर उन्मत्त हो रहा है अर्थात् वह अपने कर्तव्या-कर्तव्यके विवेकसे शून्य हो प्रमत्तकी भाँति सो रहा है।'

ऐसी दशामें इस प्रमादसे सावधान होकर हमें विचार करना चाहिये कि हमारे जीवनका कितना समय चला गया—जीवनके कितने वर्ष कम हो गये। विचारनेपर पता लगेगा कि हमारा बहुत समय चला गया, समय बीता ही जा रहा है और आयु बहुत ही कम रह गयी है। अतः मनुष्यको अपने जीवनका जो मुख्य लक्ष्य है, जो प्रथम कर्तव्य है, उसकी ओर ध्यान देना चाहिये और अपने कामको शीघ्र बनानेका प्रयत्न करना चाहिये।

बंगालकी एक सुनी हुई घटना है—कहाँतक सच्ची है, पता नहीं। एक धनी सेठके यहाँ एक दिन दूध बेचनेवाली ग्वालिन आयी और उसने दूध देकर मुनीमसे उसकी कीमत माँगी। मुनीमने उससे कहा—'पहले बाजारका सौदा कर आ, घर जाते समय पैसा ले जाना।' वह बेचारी उस समय चली गयी और बाजार-का काम करके फिर सेठके यहाँ आयी और मुनीमसे पैसा माँगा। मुनीम कुछ कार्यव्यस्त थे। उन्होंने कहा—'अभी ठहरो।' उस स्त्रीने दो-तीन बार पैसा माँगा; परंतु मुनीमजी वही जवाब देते रहे। आखिर, जब सूर्यास्त होनेको आया और मुनीमने पैसे नहीं दिये, तब वह स्त्री दुःखित हृदयसे बँगलामें ही बोली—'आर बेला नाइ'—अब समय नहीं है, मुझे बहुत दूर जाना है, सूर्य भगवान् अस्ताचलको जा रहे हैं।' सेठजी भी उस समय पासमें ही बैठे काम कर रहे थे। उस बंगालिनके लाचारीके शब्द उनके कानोंमें पड़े। उन्होंने मुनीमसे कहकर उसके पैसे दिलवा दिये। सेठजीके हृदयमें उसकी वह वाणी चुभ गयी। उन्होंने उसी समय मुनीमसे कहा—'मेरा तलपट देखो और सब कारोबार बंद कर दो।' मुनीमजी उनकी यह बात सुनकर आश्चर्यमें पड़ गये और बोले—'आप इस तरह क्या कह रहे हैं?' सेठजीने कहा—'तुमने नहीं सुना, दूधवाली ग्वालिन क्या कह रही थी? उसने कहा था 'आर बेला नाइ।' बात बहुत ही सत्य है। जीवन-सन्ध्या आ गयी, भैया! मुझको भी अब समय कहाँ?' इस प्रकार कह, काम-काजका सब प्रबन्ध करके सेठजी घरसे चल दिये और अपनी शेष आयु अहर्निश हरिभजनमें ही बिताने लगे।

हमलोगोंको इस घटनापर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। हमारी आयु प्रतिक्षण बीत रही है। जिनकी उम्र चालीस-पचास वर्षकी हो गयी, उनकी तो अधिकांश आयु बीत चुकी, थोड़ी ही बाकी रही है। जिनकी उम्र छोटी है, उनका भी क्या भरोसा? मानव-जीवनकी पूर्णायु सौ वर्षकी बतलायी जाती है; किंतु आजकल पूरी आयु प्राप्त होनी कठिन है। आजकल तो अस्सी वर्षको ही पूर्ण आयु समझना चाहिये और इस परिमित आयुके हिसाबसे तो हमारे पास बहुत ही

स्वल्प समय बचता है। इसलिये हमें सचेत होकर जल्दी अपना काम बना लेना चाहिये। हमें चाहिये कि हम अपनी आयुके बचे हुए समयको इस प्रकार काममें लायें कि शीघ्र ही उसे सुधारकर अपने जीवनको उन्नत बना सकें।

इसके लिये एक ऐसी कीमती बात बतलायी जाती है, जिसे सभी वर्गके मनुष्य कर सकते हैं और जो सुगम-से-सुगम है। इसमें न तो अधिक बुद्धिकी आवश्यकता है और न अधिक परिश्रमकी ही। निर्गुण-निराकारकी उपासनाको समझनेके लिये तीव्र बुद्धिकी आवश्यकता पड़ती है, किंतु इसमें नहीं। और यह इतनी सुगम होनेपर भी सर्वोत्तम महान् फल देनेवाली है। यह है ईश्वरकी अनन्यभक्ति। यह तो अंधे मनुष्यको लकड़ी पकड़ाकर ले जाने और उसे पार कर देनेके समान बड़ा ही सरल, सीधा और निश्चित मार्ग है। भगवद्भक्तिका यह मार्ग इतना सुगम, निष्कण्टक और अन्धकाररहित है कि इसमें कहीं भी ठोकर खाने या गिरनेका भय नहीं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्॥
यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह॥
(११। २। ३४-३५)

'राजन्! अज्ञ मनुष्योंको भी शीघ्र ही निश्चयपूर्वक परमात्माकी प्राप्ति करा देनेके लिये जो उपाय भगवान्ने बतलाये हैं, उन्हें ही तुम भगवत्सम्बन्धी धर्म जानो, जिनका आश्रय लेकर मनुष्य कहीं भी प्रमादमें नहीं पड़ता। यदि वह आँखें मूँदकर दौड़ता हुआ उस मार्ग-पर चले, तो भी न तो कहीं फिसलता है और न कहीं गिरता ही है।'

जिस प्रकार सूरदासजीको रास्ता बतानेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आ गये थे, इसी तरह वे भक्तिका आश्रय लेनेवालोंको आगे-आगे रास्ता बतलानेके लिये आ जाते हैं। जब सूरदासजी बेलके काँटोंसे आँखें फोड़कर जंगल-जंगलमें भगवान्के दर्शनकी लालसासे घूम रहे थे, उस समय भगवान्ने बालकके रूपमें आकर उनको अपने हाथसे मिठाई दी। उस दुर्लभ प्रसादको पाकर सूरदासजीका हृदय आनन्दातिरेकसे छलकने लगा। उनके पूछनेपर बालक साधारण परिचय देकर चला गया। एक दिन जब वह फिर आया, तब वृन्दावन ले चलनेकी बात हुई। वह सूरदासजीकी लाठी पकड़कर उन्हें मार्ग दिखानेके लिये आगे-आगे चलने लगा। सूरदासजीने उसका हाथ पकड़ लिया। भगवान्के हाथका स्पर्श होते ही उनके शरीरमें बिजली-सी दौड़ गयी। वे समझ गये कि ये साक्षात् भगवान् ही हैं। उन्होंने भगवान्का हाथ और भी जोरसे पकड़ा; पर भगवान्ने झटका देकर छुड़ा लिया। उस समय सूरदासजीने उनसे कहा—

हाथ छुड़ाये जात हौ निबल जानि कै मोहि।
हिरदै तें जब जाहुगे मरद बदौंगो तोहि॥

'प्राणधन! तुम मुझे निर्बल जान हाथ छुड़ाकर जा रहे हो, इसमें तुम्हारी कोई बहादुरी नहीं। तुम्हारा पौरुष तो मैं तब जानूँ, जब तुम मेरे हृदयसे चले जाओ।'

कितना आत्मबल है! प्रेमकी सुदृढ़ रस्सीसे जिन्होंने अपने हृदयेश्वरको बाँध रक्खा है, उनके हृदयसे भगवान् कैसे जा सकते हैं। उनकी भक्ति और प्रेमको देखकर भगवान् उनके सामने प्रकट हो गये और अपना साक्षात् दर्शन देकर उन्हें कृतार्थ कर दिया।

भगवान्का सहारा लेकर चलनेवालोंके लिये कितना सुगम निश्चित उपाय है! भगवान् स्वयं गीतामें कहते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥
(१२। ७)

'हे अर्जुन! उन मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी

भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ ।'

इतना ही नहीं, उस अनन्य भक्तके योगक्षेमका दायित्व भी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं । वे कहते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(गीता ९ । २२)

'जो अनन्यप्रेमी भक्तजन मुझ परमेश्वरको निरन्तर चिन्तन करते हुए निष्कामभावसे भजते हैं, उन नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करनेवाले पुरुषोंका योगक्षेम मैं स्वयं प्राप्त कर देता हूँ ।'

अब प्रश्न यह होता है कि इस अनन्य चिन्तनका उपाय क्या है । इसके लिये बहुत सुगम और सर्वोत्कृष्ट उपाय है—सर्वत्र भगवद्बुद्धि ।

भगवान्ने कहा है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(गीता ७ । १९)

'बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त पुरुष 'सब कुछ वासुदेव ही है' इस प्रकार मुझको भजता है; वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है ।'

श्रीरामचरितमानसमें श्रीरघुनाथजीने हनुमान्‌जीसे कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥

'जिसकी यह बुद्धि कभी नहीं हटती—सदा अटल रहती है कि यह जो कुछ भी चर-अचररूप संसार है, सब सर्वलोकमहेश्वर भगवान् श्रीहरि ही हैं और मैं उनका दास हूँ, वही अनन्य भक्त है ।'

श्रीभगवान्‌के वचनोंपर विश्वास करके इस भावको समझना चाहिये । जिस तरह आँखोंपर हरे रंगका चश्मा लगा लेनेसे मनुष्यको सब कुछ वैसा ही—हरे रंगका ही दीखने लग जाता है, इसी तरह जो अपने हृदयनेत्रोंपर हरिरूपका चश्मा लगा लेता है, उसे सर्वत्र हरिभगवान् ही दीखने लग जाते हैं । अभिप्राय यह कि अपने हृदयके भावोंको हरिमय बना लेना चाहिये । ऐसा हो जानेपर फिर बाहरसे दूसरी चीज दीखनेपर भी उसके अन्तरमें हरि ही दीखने लगेंगे । जैसे मिट्टीके बने पदार्थ—घड़ा, सकोरा, दीया आदि सब तत्त्वतः एक मिट्टी ही हैं और लोहके बने हुए चाकू, कैंची, तलवार आदि अनेकों पदार्थ लोह ही हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत्—समस्त सांसारिक पदार्थ—तत्त्वतः एक हरिभगवान् ही हैं । यही वास्तविक सिद्धान्त है । इसे समझकर प्रयत्न करनेपर शीघ्र ही ऐसा भाव हो सकता है । अनिच्छा या परेच्छासे जो भी चेष्टा-क्रिया हो, उसे भगवान्‌की लीला समझे; क्योंकि जो कुछ भी पदार्थ है, वह भगवान् हैं; अतः उनसे जो चेष्टा होती है, वह भगवान्‌की ही लीला है । इस प्रकारका भाव हो जाय तो फिर क्रोध आदि कोई भी विकार न आयें और परम शान्ति प्राप्त हो जाय । केवल इस प्रकारका भाव बनानेकी आवश्यकता है । आप चाहे कोई काम करें, कुछ भी आपत्ति नहीं; परंतु हृदयमें उपर्युक्त भाव होना चाहिये। इसमें आपका एक भी पैसा खर्च नहीं होता; करनेमें भी कोई परिश्रम नहीं, वरं बड़ी ही सुगमता है और यदि आपमें किसी प्रकारका कोई दोष भी विद्यमान हो तो इस भावमें इतनी शक्ति है कि यह उसे भी जलाकर भस्म कर देगा । केवल आपकी बुद्धिमें यह पवित्रतम भाव हर समय जाग्रत् रहना चाहिये कि 'यह सब कुछ तत्त्वतः एक हरि ही हैं तथा उनसे जो चेष्टा हो रही है, वह उनकी लीला है ।' जिस प्रकार सुनार सोनेके अनेक तरहके गहने बनाता है, किंतु गहनोंके नाना प्रकार बनाते समय भी उसकी बुद्धिमें वह सब

एक सोना ही रहता है तथा गहनोंको घुटालीमें डालकर गलाते समय भी उसकी उन गहनोंमें एक स्वर्ण-बुद्धि ही रहती है, उसी तरह अपने भी 'सब एक भगवान् ही हैं'—यह भाव हरदम बना रहना चाहिये। अभी जो हमारी बुद्धिमें संसारका नानाभाव धँसा हुआ है, वह न होकर उसके बदलेमें एक भगवद्भाव होना चाहिये।

ऊपर यह कहा गया कि 'समय बहुत थोड़ा रहा है'—इस बातको सुनकर घबराना नहीं चाहिये। जो समय बचा है, उसीमें हमारा कल्याण हो सकता है। आप कहें कि क्या जिनकी आयुमें एक-दो दिन ही अवशिष्ट हैं, उनका भी उद्धार हो सकता है, तो यह तो बहुत है; एक-दो घंटे जीनेवालेका भी कल्याण हो सकता है। भागवतकार कहते हैं—

किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह।
वरं मुहूर्तं विदितं घटेत श्रेयसे यतः॥
खट्वाङ्गो नाम राजर्षिर्ज्ञात्वेयत्तामिहायुषः।
मुहूर्तात्सर्वमुत्सृज्य गतवानभयं हरिम्॥
(२।१।१२-१३)

'भगवान्से विमुख और विषयासक्त रहकर संसारमें बहुत वर्षोंतक जीनेसे भी क्या लाभ? हमें तो जिससे कल्याणकी प्राप्ति हो, ऐसा (भगवद्भक्तियुक्त) एक मुहूर्तका जीवन भी अच्छा प्रतीत होता है। राजर्षि खट्वाङ्गको जब अपनी आयुका अन्त विदित हुआ, तब वे एक ही मुहूर्तमें सर्वस्व यहीं छोड़कर अभय देनेवाले श्रीहरिको प्राप्त हो गये।'

किसी कविने भी कहा है—

जीवन थोड़ा ही भला, जो हरि-सुमरन होय।
लाख बरसका जीवना लेखे धरै न कोय॥

बस, इसके लिये एक ही शर्त है—श्रीभगवान्को कभी मत छोड़ो। उन्हें हर वक्त याद रक्खो। भगवान्ने गीतामें कहा है—'मच्चित्तः सततं भव'(१८।५७)—निरन्तर मुझमें चित्तवाला हो।

जो हर वक्त भगवान्को याद रखता है, उसे भगवान् कैसे छोड़ सकते हैं। सदा भगवच्चिन्तन करनेवालेको अन्तकालमें भी भगवान्की स्मृति रहेगी ही और अन्तकालमें स्मृति बनी रहेगी तो कल्याण हो जायगा, इसमें कोई भी शङ्का नहीं है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
(गीता ८।५)

'जो पुरुष अन्तकालमें भी मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे साक्षात् स्वरूपको प्राप्त होता है—इसमें कुछ भी संशय नहीं है।'

आप कहें कि निरन्तर स्मरण होता नहीं; तो इसका हेतु यही है कि श्रद्धाकी कमीके कारण निरन्तर स्मरणके रहस्य और प्रभावको आप नहीं जानते। नदीमें डूबनेवाले किसी आदमीको यदि नौकाका रस्सा पकड़में आ जाय तो क्या फिर वह किसीके कहनेपर भी उसे छोड़ सकता है? कभी नहीं। वैसे ही यदि भगवान्पर आपको विश्वास हो तो क्या आप भगवान्को छोड़ सकते हैं। यह संसार समुद्र है। इसमें भगवान्के चरण ही सुदृढ़ नौका हैं। जो मनुष्य भगवच्चरण-कमलोंको भक्तिपूर्वक पकड़ लेता है, वह बिना किसी परिश्रमके ही पार हो सकता है। उन सर्वशक्तिमान् भगवान्की शरण लेना ही उनके चरणोंको पकड़ना है और हर समय उनको याद रखना ही उनकी शरण लेना है; इसीका नाम भक्ति है।

यदि कहें कि निरन्तर उनका चिन्तन होना कठिन है, तो यह बात नहीं है। केवल आपने इसे कठिन मान रक्खा है, इसीसे आपको यह कठिन प्रतीत हो रहा है। आप उसके असली तत्त्व और रहस्यको अभी समझे नहीं; यदि तत्त्व और रहस्यको समझ जाते तो

कभी उन्हें छोड़ नहीं सकते। यदि आप यह समझ जाते कि जहाँ भगवच्चिन्तन छूटा कि समुद्रमें डूबे, तो फिर आपसे भूल नहीं हो सकती। डूबनेवाला व्यक्ति इस तत्त्वको जानता है कि नौकासे ही उसकी रक्षा सम्भव है; अतः वह उसे एक बार पकड़ लेनेपर फिर छोड़ता ही नहीं।

यदि कहें कि हम तो पापी हैं, हमारा उद्धार इतना शीघ्र कैसे हो सकता है, तो इसके लिये भी डरनेकी कोई बात नहीं है। भगवान्ने स्वयं कहा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३०-३१)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।'

जो प्राणपणसे साधनमें लग जाता है, कभी भी जी नहीं चुराता, अकर्मण्य नहीं होता—कमकसपना नहीं करता, उसके लिये कहीं कोई बाधा नहीं आती। जिसे एकमात्र भगवान्पर ही विश्वास है, जिसकी बुद्धिमें यह निश्चय हो गया है कि भगवान्से ही मेरा उद्धार होगा एवं जो दृढ़ विश्वासपूर्वक भगवान्के ही शरण हो गया है, उसके पास चाहे कितना ही कम समय हो और वह चाहे कैसा भी पापी हो, भक्तिका इतना प्रभाव है कि वह उसे तार ही देती है।

यदि कहें कि जिनमें ज्ञान नहीं है तथा जो मूर्ख हैं, उनका भी कल्याण हो सकता है क्या, तो हम कहेंगे, निश्चय हो सकता है। श्रीभगवान्ने बतलाया है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०। १०)

'उन निरन्तर मेरे ध्यान आदिमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ, जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥
(गीता १३। २५)

'परंतु इनसे दूसरे, अर्थात् जो मन्द बुद्धिवाले पुरुष हैं, वे इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही तदनुसार उपासना करते हैं और वे श्रवणपरायण पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं।'

भाव यह कि कोई कैसा भी अज्ञानी या मूर्ख क्यों न हो, यदि वह ईश्वरकी अनन्यभक्ति करने लगे या ज्ञानी महात्माके पास जाकर उनसे जो भी सुननेको मिले, उसमेंसे जो वह कर सके, उसे ही स्वयं करने लग जाय तो वह भी परमपदको पा सकता है। मूर्ख है तो भी चिन्ता न करे, उसे महात्मा अथवा स्वयं भगवान् ही ज्ञान प्रदान कर सकते हैं। चाहे पापी हो, मूर्ख हो, समय कम हो, तब भी भगवान्की कृपासे कल्याण हो सकता है। केवल एक काम हमें करना होगा। 'भगवान् हैं'—ऐसे दृढ़ विश्वासपूर्वक उठते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते, सोते-जागते—हर समय हम भगवान्को याद रक्खें। आप कहें कि रात्रिमें सोते हुए तो याद नहीं रहता, तो यदि आपका स्मरणका अभ्यास दिनमें बराबर चलता रहेगा तो रात्रिमें भी वही होगा; क्योंकि जो काम दिनमें किया जाता है, वही रात्रिमें स्वप्नमें याद आया करता है। रात्रिमें भी स्मरण होता रहे, इसके लिये एक सरल उपाय है। सोनेके समय

चाहे लेटे हुए ही इसे करें। दस-पंद्रह मिनट पहलेसे संसारके सङ्कल्पोंके प्रवाहको हटाकर भगवान्‌का स्मरण करते हुए तथा उनकी लीलाओंका मनन करते हुए ही सोयें। इससे रात्रिमें भी भगवत्स्मरण बना रह सकता है। अभिप्राय यह है कि हर समय भगवान्‌को याद रक्खें। उन्हें कभी नहीं भुलाना चाहिये। यदि त्रिलोकीका राज्य भी प्राप्त होता हो तो उसे भी अत्यन्त नगण्य समझकर छोड़ दे, किंतु भगवान्‌के चिन्तनको कभी न छोड़े। जो कभी भी भगवान्‌को नहीं भुलाता, जिसके एकमात्र भगवान् ही परम प्रिय और सर्वस्व हैं, वही धन्य है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः॥
विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः।
प्रणयरशनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥
(११।२।५३, ५५)

'त्रिभुवनके राज्य-वैभवके लिये भी जिसका भगवच्चिन्तन नहीं छूट सकता, जो भगवान्‌में ही मन लगाये रखनेवाले देवता आदिद्वारा खोज करने योग्य भगवच्चरणारविन्दोंसे आधे पलके लिये भी विचलित नहीं होता, वह भगवद्भक्तोंमें अग्रगण्य है। जो विवश होकर अपना नाम उच्चारण करनेवालेके भी सम्पूर्ण पाप-समूहको ध्वंस कर देते हैं, वे साक्षात् परम ब्रह्म परमेश्वर जिसके हृदयको इसलिये कभी नहीं छोड़ पाते कि उनके चरणकमल प्रेमकी रस्सीसे बँधे हैं, वही भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ कहा गया है।'

ईश्वरने हमको विवेक, बुद्धि और ज्ञान इसलिये दिया है कि उन्हें हम काममें लायें। बुद्धिमान् पुरुष वही है, जो अपने समयको उत्तम कार्यमें लगाता है, एक क्षण भी व्यर्थ नहीं बिताता। वह जिस कामके लिये आया है, पहले उसी कामको करता है; वह कभी नुकसानका काम नहीं करता, सदा नफेका काम ही करता है और जो ज्यादा कीमती होता है, वही काम करता है, वही समझदार समझा जाता है।

जैसे किसी एक आदमीको जमींदारसे एक खानका एक सालके लिये ठेका मिला। उस खानमें बहुमूल्य हीरा-पन्ना, पत्थर तथा कोयला भरा हुआ है। अब ठेकेदार चाहे उसमेंसे हीरा-पन्ना निकाले, अथवा पत्थर-कोयला ही; या कुछ भी न निकाले अथवा उल्टे उसपर अपने घरका कूड़ा-कर्कट ही डाले। यह सब उसकी इच्छापर निर्भर है। जमींदारकी ओरसे तो उसे पूरा अधिकार है। परंतु समझदार आदमी वही है, जो उसमेंसे हीरे-पन्ने-रत्न निकालता है। वह तो मूर्ख है, जो कोयला-पत्थर निकालता है और वह उससे भी ज्यादा मूर्ख है, जो उसमेंसे कुछ भी नहीं निकालता, केवल फुलवाड़ी लगाता है। तथा वह तो उससे भी महान् मूर्ख है, जो उल्टे उसपर कूड़ा-कर्कट डालता है। इसी प्रकार भगवान्‌ने यह शरीररूपी क्षेत्र (खेत) हमें दिया है। जो इसके तत्त्वको समझ गया, वह तो इससे बढ़िया-बढ़िया काम लेता है। नवधा भक्तिके नाना प्रकारके अङ्ग ही नाना प्रकारके रत्न हैं, इससे जो उनका उपार्जन करता है, वह चतुर है। जो इसे संसारी स्त्री-पुत्र, धन आदि पदार्थोंके बटोरनेमें लगाता है, वह पत्थर-कोयला निकालनेवालेके समान मूर्ख है। इसे केवल सँवारने-सजानेमें ही समय बितानेवाला उससे भी ज्यादा मूर्ख है; तथा वह तो और भी महान् मूर्ख है, जो अपने समयको झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार इत्यादि पापोंको बटोरने और लोगोंकी निन्दा करनेमें बिताता है। समझदार आदमीको चाहिये कि वह समय रहते ही अपना काम बना ले। शरीर तो नाशवान् है; जितने दिनका ठेका मिला है, उतने ही दिन रहेगा—

जितने श्वास हैं, उतने ही आयेंगे; इसलिये प्राण रहते-रहते ही इससे जितना ऊँचे-से-ऊँचा काम ले लिया जाय, वही सर्वोत्कृष्ट है। नहीं तो समय बीत जानेपर फिर पछतानेके सिवा और कुछ हाथ नहीं लगनेका।

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥

हमें विचार करना चाहिये कि यह शरीर क्यों मिला है। यह हमें मिला है—भगवान्‌को पानेके लिये। हमलोगोंका अभी जिस काममें समय बीतता है, वह प्रायः व्यर्थ बीतता है। जो काम केवल इन्द्रियोंसे होता है, उसकी कोई विशेष कीमत नहीं। जो काम मनसे होता है, वही दामी है। हमें देखना चाहिये कि हमारा मन क्या कर रहा है। आप क्रियासे तो पूजा करने बैठे हों; पर आपका मन यदि संसारमें चक्कर लगा रहा है तो यह कार्य कीमती नहीं, यह तो रत्नोंके बदले पत्थर निकालना है। किसी कविने कहा है—

माला तो करमें फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुवाँ तो चहुँ दिसि फिरै, यह तो सुमरन नाहिं॥

अतः बुद्धिसे विचारना चाहिये। विचारकर देखेंगे तो आपको पता लगेगा कि हमारा मन भजनमें एक आना भी नहीं लगता तथा स्वार्थमें दो-तीन आना लगता है और बाकी बारह आना तो व्यर्थ ही जाता है—यानी आलस्य, प्रमाद, भोग, पाप और व्यर्थ-चिन्तनमें ही जाता है, जिससे न इस लोकमें कोई लाभ है और न परलोकमें ही; बल्कि उल्टे महान् हानि-ही-हानि है। इसलिये मनुष्यको विवेकपूर्वक विचार करके अपना सुधार करना चाहिये। यदि आप इसे न करेंगे तो दूसरा कौन करेगा? यह आपका खास काम है और यह आपके किये ही होगा, दूसरेके द्वारा यह नहीं किया जा सकता। आप चाहें कि आपकी आत्माके उद्धारका काम धनसे, नौकरसे, मित्रसे या घरवालोंसे करा लिया जायगा तो कभी नहीं होनेका; यह तो आपको ही करना पड़ेगा। अतः सब काम छोड़कर सर्वप्रथम यही काम करना उचित है। साथ ही यह भी ध्यान रहे कि यह कार्य अन्य किसी भी योनिमें सिद्ध होनेवाला नही है। अन्य सब तो भोग-योनियाँ हैं। जब कभी होगा तो इस मानवयोनिमें ही होगा और यह मानवजीवन दुबारा फिर कब मिलेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं। अन्य संसारी कार्योंमें तो यदि कुछ बाकी भी रह जायगा तो आपके उत्तराधिकारी उसे पूरा कर लेंगे या कोई नहीं भी करेगा तो उससे आपकी कुछ भी हानि नहीं है; किंतु साधनमें यदि कमी रह गयी तो उसकी पूर्ति कोई भी नहीं कर सकता। आत्मोद्धारमें थोड़ा-सा भी काम बाकी रह जायगा तो आपके लिये महान् हानि है! आपने संसारी कामोंको अज्ञानतावश ही जरूरी समझ रक्खा है, यह आपकी महान् भूल है। यहाँका कोई भी पदार्थ आपके साथ नहीं जानेका। पहले भी कहींसे इनको आप साथ नहीं लाये थे और जाते समय भी कोई साथ नहीं जायगा। मरनेके बाद सब यहीं रह जाते हैं; केवल पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन और बुद्धि—ये सत्रह तत्त्व आपके साथ जायँगे। जो साथ जानेवाले हैं, उन्हें ही अच्छे बनायें। इनमें उत्तम-उत्तम गुण और आचरणरूप पदार्थ भर लेने चाहिये, जिससे यहीं काम बन जाय। यदि किसी कारणसे किञ्चित् कमी भी रह गयी तो योगभ्रष्ट होकर दूसरे जन्ममें उद्धार हो जायगा। इसलिये हमें इसमें दैवी सम्पदाके ही गुण और आचरण भरने चाहिये। आसुरी सम्पदाके अवगुण भरना तो कूड़ा-कर्कट इकट्ठा करना है। जो भी बुरा भाव और बुरा कर्म है, उसे तो निकाल देना चाहिये। जैसे किसी स्त्रीको देखकर हमारे मनमें बुरा भाव होता है तो उसे निकालकर नेत्रोंमें अञ्जन लगा लेना चाहिये। अञ्जन क्या है? उसे माता, बहिन, लड़कीके रूपमें समझना ही अञ्जन लगाकर देखना है। इसी प्रकार कान, वाणी आदि सभीको पवित्र बनाना चाहिये। तथा

हृदयमें भगवान्‌की लीला और भक्तोंके चरित्र आदि उत्तम बातोंको भरना चाहिये। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमारा कल्याण सम्भव नहीं। कविने कहा है—

जाकी पूँजी साँस है, छिन आवै छिन जाय।
ताको ऐसो चाहिये रहै राम लौ लाय॥

इस पूँजीसे सर्वोत्तम लाभ उठाना चाहिये। यह मनुष्य-शरीर ही खेत यानी कर्मभूमि है, अन्य सब योनियाँ तो ऊसर भूमि हैं। इसमें चाहे आप मेवा पैदा कर लें, चाहे बबूल। मेवा क्या है?

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

'भगवान् विष्णुके नाम, रूप, गुण और प्रभावादिका श्रवण, कीर्तन और स्मरण तथा भगवान्‌की चरणसेवा, पूजन और वन्दन एवं भगवान्‌में दासभाव, सखाभाव और अपनेको समर्पण कर देना—यह नौ प्रकारकी भक्ति है।'

यह नौ प्रकारकी भक्ति ही मेवा है। भक्तिके इन नौ प्रकारके अङ्गोंमेंसे एक भी कर लें तो भगवान् मिल जायँ; फिर जिसमें ये सभी हों, उसका तो कहना ही क्या है! वह तो बहुत ही उत्तम है।

केवल श्रवणभक्तिसे राजा परीक्षित् तथा धुन्धुकारी आदि; कीर्तनसे नारदजी, तुलसीदासजी, सूरदासजी, गौराङ्ग महाप्रभु आदि; स्मरणसे ध्रुव आदि; पादसेवनसे लक्ष्मी, भरत, केवट आदि; पूजनसे पृथु, द्रौपदी, गजेन्द्र, भीलनी, रन्तिदेव आदि; नमस्कारसे अक्रूर आदि; दास्यभावसे हनूमान् आदि; सख्यभावसे सुग्रीव, अर्जुन आदि एवं आत्मनिवेदनसे बलि आदि भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं।

अतएव हमें इन सब बातोंपर विचार करके कटिबद्ध होकर जल्दी-से-जल्दी उस कामको बना लेना चाहिये, जिसके लिये हमें यह मानवदेह प्राप्त हुआ है। भागवतकार चेतावनी देते हुए कहते हैं—

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात्॥
(११। ९। २९)

'यह मनुष्यदेह अनित्य होनेपर भी परम पुरुषार्थका साधन है। अतः अनेक जन्मोंके अनन्तर इस दुर्लभ नर-देहको पाकर बुद्धिमान् पुरुषको उचित है कि जबतक यह पुनः मृत्युके चंगुलमें न फँसे, तबतक शीघ्र ही अपने कल्याणके लिये प्रयत्न कर ले; क्योंकि विषय तो सभी योनियोंमें प्राप्त होते हैं (इनका संग्रह करनेमें इस अमूल्य अवसरको कदापि न खोये)।'

राम-रंग

कर्म करूँ इसलिये, प्राप्त हों प्रियतम प्यारे।
नहीं चाहना अन्य, परम धन वही हमारे॥
छोड़ा जगका संग, सभीसे रहते न्यारे।
सबसे हूँ निर्वैर, सभी हैं रूप तुम्हारे॥
स्वामी माता पिता गुरु मित्र बन्धु सतसंगि तुम।
पिचकारी-सा मन मेरा भर जाओ बन रंग तुम॥

—श्रीनयनजी

योग और परकाय-प्रवेश

(लेखक—महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्०ए०, डी०लिट्०)

योगशास्त्रकी आलोचना करनेपर यह स्पष्ट समझमें आ जाता है कि योगीके आत्मविकाशके लिये परकाय-प्रवेशका एक विशेष स्थान है; परंतु यह भी अवश्य ही सत्य है कि स्वयं योगमार्गमें प्रविष्ट न होकर केवल शास्त्रकी आलोचनाके द्वारा इस रहस्यको समझना सम्भव नहीं। भगवान् शङ्कराचार्यने किसी विशिष्ट प्रयोजनको साधनेके लिये परकाय-प्रवेश किया था, यह उनके जीवनचरितके पढ़नेसे जाना जाता है। बहुत-से लोगोंकी यह धारणा है कि परकाय-प्रवेश एक साधारण विभूतिमात्र है तथा अन्यान्य विभूतियोंके समान अध्यात्म-मार्गमें अग्रसर होनेवाले योगीके लिये वह उपेक्षणीय है। यह धारणा निराधार है, यह बात परकाय-प्रवेशके तत्त्वकी आलोचना करनेपर शीघ्र ही समझमें आ जायगी।

प्रचलित योगमार्गके जो आठ अङ्ग हैं, उनमें पाँच बहिरङ्ग तथा तीन अन्तरङ्गके नामसे प्रसिद्ध हैं। अन्तरङ्ग योगके प्रारम्भमें ही धारणाका स्थान निर्दिष्ट है। चित्तको देहके किसी अंशमें बद्ध कर रखनेका अभ्यास धारणाकी सिद्धिके लिये एकान्त आवश्यक है। चित्त स्वभावतः ही चञ्चल है, यह कहीं आबद्ध होकर रहना नहीं चाहता; परंतु अभ्यासके द्वारा दीर्घकालके पश्चात् इसे इस प्रकार आबद्ध करना सम्भव हो जाता है। चित्तको आबद्ध न कर सकनेपर ध्यान और समाधिकी आशा दुराशामात्र है। यह जो धारणाकी बात कही गयी है, वह अपने देहको आश्रय बनाकर ही की जाती है; किंतु योगीके लिये विदेह धारणाकी भी आवश्यकता है। विदेह धारणाका तात्पर्य है कि चित्तको देहमें प्रतिष्ठित रखते हुए भी उसकी वृत्तिको देहके बाहर किसी अभीष्ट स्थानमें भेजा जा सके। चित्तके स्वरूप तथा उसकी वृत्तिमें जो भेद है, उसे इस प्रसंगमें स्मरण रखना उचित है। चक्षुसे जिस प्रकार समस्त चाक्षुष रश्मियाँ निकलती हैं तथा वे बाह्य दृश्य पदार्थके साथ युक्त होकर उसके आकारमें परिणत हो जाती हैं, उसी प्रकार चित्तसे भी रश्मियाँ निकलकर बाह्य पदार्थोंमें कार्य करती हैं। इस प्रकार दूरवर्ती वस्तुमें धारणाका अभ्यास सिद्ध हो जानेपर उस पदार्थका ध्यान, उसमें चित्तकी समाधि और उसके फल-स्वरूप उस पदार्थका साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। विदेह धारणाके बिना बाह्य पदार्थका अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। शास्त्रमें अनेकों स्थानोंमें 'योगज प्रत्यक्ष' नामसे जिस अलौकिक प्रत्यक्षका उल्लेख पाया जाता है, उपर्युक्त साक्षात्कार उसीका एक प्रकारभेदमात्र है।

चित्तकी अनन्त रश्मियाँ हैं; परंतु किसी एक विशिष्ट पदार्थका साक्षात्कार करनेके लिये उसमें केवल एक रश्मिका सञ्चार आवश्यक होता है, अनेक रश्मियोंका नहीं। किंतु योग-शक्तिके क्रमिक विकाशके फलस्वरूप जब एक रश्मिके समान अन्यान्य समस्त रश्मियोंका सञ्चार हो जाता है, तब बाह्य जगत्के समस्त पदार्थोंके विषयमें प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। यह सत्य है कि पदार्थ अनन्त हैं और चित्तकी रश्मियाँ भी अनन्त हैं; परंतु किसी विशिष्ट पदार्थका स्मरण करके उसमें रश्मिप्रयोग करनेसे कभी अनन्त पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता। इसी कारण खण्ड-खण्डरूपसे होनेवाले पृथक् पदार्थके ज्ञानसे जगत्के समस्त पदार्थोंका तथा वर्तमानके समान ही अतीत और अनागत समस्त विषयोंका ज्ञान सम्भव नहीं होता। सामान्य और विशेष भावमें परस्पर सम्बन्ध है। अतएव विशेष पदार्थमें संयम करके जिस प्रकार उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण विशेषोंके व्यापक महासामान्यका अवलम्बन करके उसके संयमके द्वारा सर्वज्ञानकी उत्पत्ति हो सकती है।

विदेह धारणाका अभ्यास करके खण्डरूपसे अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होनेपर भी इस ज्ञानमें ज्ञेय विषयका ज्ञेयरूपमें ही प्रतिभास होता है, ज्ञातारूपमें नहीं। अर्थात् प्रत्येक व्यक्तिका व्यक्तित्व इस ज्ञानका विषय नहीं बनता; क्योंकि एक अखण्ड चैतन्यके साथ व्यक्तित्व-नियामक अवच्छेदक-स्वरूप मनका सम्बन्ध रहनेके कारण उपर्युक्त व्यक्तिका वैशिष्ट्य निरूपित होता है। खण्डरूपमें आत्मा अनन्त हैं तथा मन भी अनन्त हैं। केवल यही बात नहीं, प्रत्येक आत्माके साथ उसके स्वकीय मनका सम्बन्ध भी पहलेसे ही निर्दिष्ट रहता है। आत्मा शुद्ध चिन्मात्र तथा सर्वत्र समभावापन्न होनेपर भी जैसे आत्मा-आत्मामें भेद होता है, ठीक वैसे ही मनका स्वरूप और प्रकृति भी सामान्यतः एक प्रकारकी होनेपर भी विभिन्न मनोंमें पारस्परिक भेद सृष्टि-कालसे ही चला आता है। केवल इतना ही नहीं; आत्माके

साथ मनका विशिष्ट सम्बन्ध भी पहलेसे ही निश्चित रहता है। इन समस्त कारणोंसे व्यक्तित्व स्वीकार किये बिना काम चल नहीं सकता। इसी कारण विदेह धारणासे जो प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे व्यक्तित्वमूलक ज्ञानका उदय नहीं हो सकता। प्रत्येक जीव व्यक्तित्वसम्पन्न होता है। इसका तात्पर्य यही है कि उसका एक अपना मन है। जबतक उस मनके साथ योगी योगबलके द्वारा अपने मनका तादात्म्य सम्पादन नहीं कर लेता, तबतक उस व्यक्तिगत जीवनके सुख-दुःख और विशेष अनुभूतियोंको वह ठीक उस रूपमें ग्रहण नहीं कर सकता, जिस रूपमें ग्रहण करनेपर वे उस व्यक्तिके ही जीवनकी अनुभूतिके अंशरूपमें अङ्गीकृत किये जा सकें। किसी व्यक्तिके साथ सब प्रकारसे अभिन्न होनेपर जबतक अभेद बना है, तबतक उसकी सुख-दुःखादि समस्त अनुभूतियाँ और संस्कार योगीके अपने हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं।

विदेह धारणासे इस प्रकार अभेद भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इस धारणाके लिये योगीको अपने मनके द्वारा प्रत्यक्षतः कोई कार्य करना नहीं पड़ता। मनकी रश्मिके द्वारा ही अभीष्ट कार्य सम्पादित हो जाता है। अर्थात् योगीका मन जिस प्रकार पहले देहावच्छिन्न था, वैसा ही रहता है; परंतु दूरवर्ती वस्तुका आश्रय लेकर केवल उसके वृत्तिरूपमें परिणत होता है। साधारण निकटवर्ती वस्तुके प्रत्यक्षके समय जिस प्रकार अन्तःकरणका परिणाम होता है, यह भी ठीक वैसे ही होता है। केवल एक अंशमें पृथक्ता होती है। लौकिक प्रत्यक्षके समय तो इन्द्रियोंके साथ विषयका लौकिक सन्निकर्ष रहता है; किंतु यहाँ विषय दूरवर्ती होता है और लौकिक इन्द्रियोंके लिये गोचर नहीं होता, अतएव इन्द्रियोंके साथ विषयका सन्निकर्ष लौकिक न होकर अलौकिक हो जाता है। इसका भी एक कारण है—लौकिक ज्ञानकी अवस्थामें चित्त विक्षिप्त रहता है, परंतु अलौकिक सन्निकर्षकी अवस्थामें वह अपेक्षाकृत एकाग्र हो जाता है। अर्थात् चित्तमें एकाग्रताके उदयके साथ-साथ एक विश्वरूपी आलोकके आविर्भावकी अनुभूति होती है। यह बाहरका आलोक नहीं होता, बल्कि चित्तका स्वभावगत अन्तर्हित आलोक प्रज्ञालोक होता है। विक्षिप्त अवस्थामें चित्त बहिर्मुख रहता है, अतएव इस आलोकका पता उसे नहीं लगता; परंतु आंशिकरूपमें अन्तर्मुखी भावका उदय होनेपर यह आलोक स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है। वस्तुतः इस आलोकके ऊपर समस्त तथाकथित बाह्य जगत् प्रतिष्ठित है। इस आलोकका उदय हो जानेपर इच्छा होते ही पूर्व-निर्दिष्ट वस्तु इस आलोकमें प्रकाशित हो उठती है। तब पूर्वोक्त प्रणालीसे चित्तके रश्मिविशेषको अवधानरूपमें उस वस्तुके साथ योजित करना पड़ता है। वस्तुतः साधारणतया यह करना नहीं पड़ता, अपने-आप ही हो जाता है; क्योंकि इच्छा पहलेसे ही रहती है, अतएव आलोकके आविर्भावके साथ-साथ आलोकमें प्रतिभासित वस्तु भी प्रकाशित हो उठती है। इस प्रकार विश्वकी किसी भी वस्तुका योगज सन्निकर्षके द्वारा साक्षात्कार करना सम्भव हो जाता है। यहाँ दृश्य वस्तुके चेतनत्व या अचेतनत्वकी कोई बात नहीं रहती; क्योंकि वास्तवमें तो द्रष्टाकी दृष्टिके सामने भासमान होनेके कारण विश्वकी समस्त वस्तुएँ ही अचेतन हैं।

इस विवरणसे यह समझमें आ सकता है कि किसी मनुष्यका कोई दूरवर्ती योगी यदि विदेह धारणाके द्वारा साक्षात्कार करता है तो यह समझ लेना चाहिये वह साक्षात्कार अन्यान्य अचेतन पदार्थोंके साक्षात्कारके अनुरूप ही होगा। यही क्यों, उस मनुष्यके सुख-दुःख आदि आभ्यन्तर भावसमूह भी परम्परागतरूपमें उस योगीके साक्षात्कारमें आ सकते हैं। परंतु ऐसा होनेपर भी वह मनुष्य विशेष स्वतन्त्र व्यक्तिरूपमें अर्थात् स्वयं भोक्ता बनकर भोग्यस्वरूप इन समस्त आभ्यन्तर भावोंको जिस प्रकार प्राप्त होता है, द्रष्टा योगीके लिये वह सम्भव नहीं होता। योगी तो इन समस्त सुख-दुःख आदि भावोंको ठीक उसी प्रकार अनुभवमात्र करेगा, जिस प्रकार द्रष्टा दृश्यका अनुभव करता है। भोक्ता जिस प्रकार भोग्यरूपमें उन्हें ग्रहण करता है, उस प्रकार योगी नहीं कर सकेगा; क्योंकि वह द्रष्टा होनेके कारण निर्लिप्त, उदासीन तथा स्वच्छ होता है। दर्पण जिस प्रकार स्वच्छ होनेपर भी अपने समीपवर्ती नाना प्रकारके वर्णोंको ग्रहण करता है, योगी भी बहुत कुछ वैसे ही करता है, उससे अधिक नहीं।

यह एक ओर तो योगीकी निर्विकारताका परिचायक है, परंतु दूसरी ओर यह उसकी शक्तिकी न्यूनताका निदर्शन है। यदि योगी इस प्रकार उदासीन न रहकर भोक्ताके साथ सचमुच ही भोक्ता बन सकता अर्थात् पापीके साथ पापी, पुण्यात्माके साथ पुण्यात्मा, सुखीके साथ सुखी एवं

दुखीके साथ दुखी बन सकता तथा ऐसा होते हुए भी वह सर्वातीत रह सकता तो उसका महत्त्व अधिक होता। इसको सम्भव बनानेके लिये योगीको अपने मनका विश्लेषण करनेकी सामर्थ्य प्राप्त करना आवश्यक है। तात्पर्य यह है कि मनको शरीरसे बाहर किये बिना केवल देहमें स्थित मनकी वृत्तिके द्वारा यह विशाल कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। मन देह त्यागकर कभी बाहर नहीं जा सकता। अवश्य ही यह साधारण मनुष्यकी बात है। साधारण मनुष्य केवल मृत्युके समय ही देहसे बाहर निकल सकता है, अर्थात् मृत्युकालमें ही उसके मनका बाहर निकलना सम्भव है; परंतु विशेष योगाभ्यासके फलसे जीवित कालमें ही ऐसा नहीं हो सकता, सो बात नहीं है। इसे सिद्ध करनेके लिये मन और देहके पारस्परिक सम्बन्धको शिथिल करना होगा। मन कर्मके प्रभावसे अहङ्कारके अधीन होकर देहमें आवद्ध हो रहा है। अभिनव कर्मके द्वारा तथा गुरुदत्त कौशलके प्रभावसे जब यह बन्धन क्रमशः शिथिल हो जाता है, तब जिसे ग्रन्थिमोचन कहते हैं वही योगक्रिया निष्पन्न होती है। यद्यपि उस समय भी मन देहको आश्रय करके ही रहता है, तथापि वह इच्छा करनेपर देहको त्याग भी सकता है। इसके बाद एक विषयमें और भी योग्यता प्राप्त करना आवश्यक है। मन जिस समय देहमें सञ्चरण करता है, उस समय जिन मार्गोंका अवलम्बन करके उसे चलना पड़ता है, उनका नाम है 'मनोवहा नाडी'। देहके भीतर असंख्य मनोवहा नाड़ियाँ इधर-उधर प्रवाहित हो रही हैं; परंतु ये बहुधा नाना प्रकारके क्लेद और मलके द्वारा आवद्ध रहती हैं। जब क्रियाके प्रभावसे ये नाड़ियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तब मनके लिये सञ्चरण करना सहजसाध्य हो जाता है। देहके भीतर जो नाड़ियाँ हैं, वे केवल देहमें ही हैं—ऐसी बात नहीं है। वे तो शरीरके बाहर विराट् विश्वमें भी फैली हुई हैं। इस नाड़ीजालके द्वारा प्रत्येक मनुष्यके साथ प्रत्येक मनुष्य—यही क्यों, प्रत्येक वस्तुके साथ प्रत्येक वस्तु संश्लिष्ट है। इन सबका ज्ञान न होनेके कारण मनके लिये इच्छानुसार सञ्चरण करना सम्भव नहीं होता। इसके सिवा एक वस्तु और आवश्यक है। जिस देहमें प्रविष्ट होकर भोक्तारूपमें उसके सुख-दुःख तथा अन्यान्य भावोंका अनुभव करना है, उसके साथ योगीके शरीरका योग जिस नाड़ीके द्वारा प्रतिष्ठित है उसे पृथक्‌रूपसे दृष्टिके सामने रखना आवश्यक है। क्योंकि इस मार्गका अवलम्बन करके ही उसे देहसे निकलना होगा। यह जानना बहुत कठिन नहीं है; क्योंकि विदेह धारणाका अभ्यास होनेपर इष्ट व्यक्तिको प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। उस समय उसके साथ जिस सूत्रका योग होता है, उसे पकड़ लेना कठिन नहीं होता।

इस प्रकारकी योग्यता प्राप्त कर लेनेपर योगी महाविदेहा नामकी धारणाके अभ्यासका अधिकारी होता है। इस महाविदेहा धारणाके द्वारा ही परकाय-प्रवेश सम्भव होता है। विदेह धारणा और महाविदेहा धारणा मूलतः अभिन्न हैं, तथापि पहली कृत्रिम है और दूसरी अकृत्रिम—यही पार्थक्य है। विदेह धारणाके अभ्याससे ही क्रमशः महाविदेहा धारणाकी योग्यता प्राप्त हो जाती है। जबतक मन और देहका सम्बन्ध शिथिल नहीं होता, तबतक देहसे मनको बाहर निकालना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः जीवित अवस्थामें मनको पूर्णतया बहिर्गत होना कभी सम्भव नहीं होता। मन कुछ अंशमें देहको अवलम्बन करके स्थित रहता है तथा आंशिकरूपमें एक, दो अथवा अनेक होकर वह बहिर्गत होता है। एकको अनेक भागोंमें विभक्त किये बिना महाविदेहा धारणाका सूत्रपात होना कठिन है। मन अर्थात् मूल मन योगीकी इच्छाके अनुसार देहमें रहता है तथा विभक्त किया हुआ मन उससे निकलकर जिस कायामें प्रविष्ट होना होता है, उसके साथ युक्त हो जाता है। दोनोंके साथ अर्थात् देहस्थ मूल मनके साथ पृथक् किये गये अंशरूप मनका एक सम्बन्ध रहता है। अर्थात् दोनों एक सूत्राकार तेजोमय पदार्थके द्वारा जुड़े रहते हैं। यह सूत्र संकोच-विकासशील होता है, विकासके समय प्रयोजन होनेपर इसे इच्छानुसार दूर सञ्चालन किया जा सकता है और संकोचके समय यह मूल मनमें आकर लीन हो जाता है। अभीष्ट कायामें मनको प्रवेश करानेके लिये किसी एक प्रवेशद्वारका अवलम्बन करके ही काम बनाना पड़ता है। जिस कायामें मनको प्रवेश कराना है, उससे सम्बन्धित मनको उद्भूत नहीं किया जायगा, अथवा अपने साथ युक्त नहीं किया जायगा तो प्रवेश करनेवाला मन प्रयोजनके अनुरूप कार्य करनेमें समर्थ नहीं हो सकेगा। प्रबल इच्छाशक्तिसम्पन्न मनको अभिभूत करनेके लिये उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल शक्तिकी आवश्यकता होती है। इस प्रकार अत्यन्त प्रबल शक्ति यदि स्वायत्त न हुई तो सब प्रकारकी कायाओंमें प्रवेश होना सम्भव नहीं होगा। दुर्बल मन सबल मनमें युक्त होने जायगा तो स्वयं ही उसमें लीन हो जानेकी आशङ्का रहेगी। अतएव कायान्तर-प्रवेशके पूर्व अपनी

सामर्थ्य और योजनाशक्ति किस परिणाममें विकासको प्राप्त हुई है, इसपर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि यह समझमें आ जाय कि निर्दिष्ट कायासे सम्बद्ध मन अभिभूत होने योग्य नहीं है तो ऐसी स्थितिमें योगीके लिये इस प्रकारकी कायामें प्रवेश करनेकी चेष्टा करना उचित नहीं है।

अबतक जो कुछ कहा गया है, उससे यह समझमें आ सकता है कि केवल मनको पृथक् कर लेनेसे तथा देहसे बाहर निकाल लेनेसे ही अन्य शरीरमें प्रविष्ट होनेका कार्य नहीं किया जा सकता; इसके लिये मनका बलशाली होना आवश्यक है। मन किसी कायामें आविष्ट होता है तो उसके साथ उसकी इन्द्रियाँ भी आविष्ट हो जाती हैं। मनके बाहर निकलनेपर इन्द्रियोंको पृथक्‌रूपसे बाहर निकालनेमें कोई कष्ट नहीं होता। योगियोंका कहना है कि जिस प्रकार मधुमक्षिकाएँ अपने नायक अथवा नायिकाका बिना कोई विचार किये, अनुसरण करती हैं, उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी मनका अनुसरण करती हैं। वस्तुतः सारी इन्द्रियाँ एक प्रकारसे मनका ही बहिर्मुख धारावाहिक आभासमात्र हैं। जिस कायामें मन आविष्ट होता है, उस कायाका मन अभिभूत होनेके साथ-साथ उसकी सारी इन्द्रियाँ भी उसी तरह अभिभूत हो जाती हैं। योगीके मन और इन्द्रियाँ उस कायामें प्रविष्ट होकर यथास्थान सन्निविष्ट हो जाते हैं तथा चारों ओर अपना अधिकार जमा लेते हैं।

इस आवेशकी स्थितिमें अभिभूत मन तथा अभिभावक मनकी अवस्थामें एक नियत सम्बन्ध विद्यमान रहता है। मन जिस परिमाणमें अभिभूत होता है, उसी परिमाणमें अभिभावक मन चैतन्यरूपसे कार्य करनेमें समर्थ होता है। यदि मन पूर्णतः अभिभूत हो जाय, तो आवेश-त्यागके पश्चात् उसमें लौकिकरूपसे किसी प्रकारकी स्मृति नहीं होती। परंतु संस्कारोंका सञ्चय तथा अलौकिक स्मृति अभिभवके उपरान्त भी रह सकती है। दूसरी ओर, अभिभावक मन आविष्ट देहके पूर्व संस्कारोंसे उत्पन्न भोगोंको तथा भाव आदिको ठीक अपने ही समान अर्थात् अभिन्नभावसे प्राप्त करता है। आवेशके बाद अभिभावक मन लौट जानेके समय आंशिक रूपसे इन सारे भोग और भावोंकी स्मृतिको साथ ले जाता है। इस प्रकारसे योगी दूसरेके सुख-दुःखको साक्षात् रूपसे भोग कर उसे क्षीण कर सकता है। इसका कारण यही है कि योगी उस समय आंशिक रूप होनेपर भी आविष्ट कायाके साथ अभिन्न होकर एक प्रकारसे उस कायाके भोक्ता-रूपमें परिणत हो जाता है। यदि मूल मनके साथ योग बनाये रखना सम्भव न होता, यदि पूर्णरूपसे पूर्व देह छोड़कर अभीष्ट देहमें प्रवेश हो जाता, तो इस प्रकारका व्यापार सम्भव नहीं था; क्योंकि वैसी स्थितिमें अपनी देहके त्यागके साथ ही योगीको परकायाका अभिमान उदित हो जाता और तब उस देहके लौकिक अभिमानीके रूपमें ही रहना पड़ता। यह उसके लिये आत्मलोपके अतिरिक्त और कुछ न होता। और यदि योगी दुर्बल होकर इस प्रकार किसी प्रबल आधारमें प्रविष्ट होनेकी चेष्टा करता तो इससे उसका चित्त लय हो जाता और वह जडत्व अर्थात् अचेतन स्थितिको प्राप्त हो जाता। ये दोनों ही अवस्थाएँ उसके लिये आत्मलोपके सिवा और कुछ न होतीं। परंतु अपने देहसे सम्बद्ध मूल मनके अवस्थित रहनेपर मन आंशिक रूपमें ही बाहर निकलता है तथा परकायामें आविष्ट होनेके समय योगी उसके साथ अभिन्न होकर उसकी सुख-दुःख आदिकी अनुभूति साक्षात् भावसे ग्रहण करनेमें समर्थ होता है; तथापि उसका मन चेतन द्रष्टाके रूपमें स्थिरतापूर्वक स्थित रहता है। यह चैतन्यकी अवस्था है, जडकी नहीं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि देहके साथ मनके संयोगकी रक्षा न हो तो द्रष्टाके रूपमें चैतन्य अवस्थामें रहना सम्भव नहीं होता और लय अवश्यम्भावी होता है।

जब योगीके मन और इन्द्रिय पूर्वदेहमें यथास्थान लौट आते हैं, उस समय आविष्ट देहमें अनुभूत सुख-दुःख और भाव आदि उसे स्मरण होते हैं। वस्तुतः यह स्मरणात्मक होनेपर भी अत्यन्त स्पष्टताके कारण प्रत्यक्षवत् ही जान पड़ते हैं। इस प्रणालीसे कायाके साथ कायाका संयोग स्थापित होनेपर योगीके लिये आकर्षण और विकर्षण दोनों ही सम्भव हो जाते हैं। अर्थात् इच्छा करनेपर योगी आविष्ट कायासे संश्लिष्ट भोग और भाव आदिको इच्छानुसार खींच ले सकता है। इसके परिणामस्वरूप आविष्ट देह और तदभिमानी जीवके कर्मफलका भार अपेक्षाकृत हलका हो जाता है। इस प्रकार अपनी कायासे अपनी ही तपस्यासे उत्पन्न शुद्ध तेजको उस कायामें प्रेरित किया जा सकता है। इसके द्वारा उस शरीर तथा उसके अभिमानी जीवका उत्कर्ष और कल्याण-साधन किया जा सकता है।

परंतु परकाय-प्रवेश न कर सकनेपर केवल विदेह-धारणासे उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञानके द्वारा इस प्रकार महाकरुणाका खेल नहीं खेला जा सकता; क्योंकि इस अवस्थामें योगी द्रष्टा ही रहता है, भोक्ता होकर भोग ग्रहण नहीं कर सकता।

दूसरेके प्राप्य भोगमें भाग न ले सकनेके कारण वह अपने भोगद्वारा किसीका भोग काटने या न्यून करनेमें समर्थ नहीं होता। द्रष्टा जिस प्रकार दृश्यसे परे रहता है, उसी प्रकार योगी परकीय सुख-दुःखके द्वारा अस्पृष्ट ही रह जाता है। यह महाकरुणाके विकासके लिये उपयोगी अवस्था नहीं है।

गुरुकी गुरुताका कार्य केवल दूर और समीपके समस्त पदार्थोंके अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिसे ही नहीं हो जाता। दीक्षादानके समय गुरुको अपने विशुद्ध ज्ञानशरीरका अंश प्रदान करके शिष्यके ज्ञानशरीरके निर्माणका मार्ग परिष्कृत करना पड़ता है। बीज खेतमें पड़नेपर जिस प्रकार अङ्कुरित होकर वृक्षरूपमें परिणत हो सकता है, उसी प्रकार गुरुके द्वारा प्रदान की हुई काया भी बीजरूपमें शिष्यक्षेत्रमें पड़कर विकसित हुआ करती है। उपर्युक्त प्रणालीसे पृथक् किया हुआ मन ही गुरुकी दी हुई ज्योतिर्मय कायाका स्वरूप है। अतएव अपने मनके अंशद्वारा जो दूसरोंकी कायामें प्रविष्ट नहीं हो सकते, वे गुरुके गुरुतापूर्ण कर्मको किस प्रकार सम्पन्न कर सकेंगे। केवल यही नहीं; एक स्थानसे दूसरे स्थानमें किसी शक्तिके सञ्चरित होनेपर उस दूसरे स्थानसे भी उस स्थानकी एक शक्ति प्रथम स्थानमें सञ्चारित हो जाती है। उपर्युक्त प्रणालीसे योगीका मन किसी कायामें समाविष्ट होकर जब अपने स्थानमें लौटता है, तब उस मनसे भी कुछ अंशको अलग करके अपने साथ ले आता है। इस प्रकार योगी अपने-अपने अभीष्ट मनोंको अपने भीतर लाकर धारण करनेमें समर्थ होता है।

यहाँ एक गम्भीर रहस्यका उल्लेख करना आवश्यक जान पड़ता है। साधारण भावसे परकाया-प्रवेश न करके यदि गुरुके किसी निजी कार्य-साधनके लिये वैसा किया जाय तो इससे गुरुके मनका अंश दीर्घकालतक अर्थात् शिष्यके देहत्यागतक उस शिष्यदेहमें ही निबद्ध रह जाता है। ऐसी स्थितिमें शिष्यके मनको अभिभूत कर रखनेकी आवश्यकता नहीं होती, तथापि प्रकारान्तरसे वह गुरुके मनके अधीन ही रहता है। इच्छा करनेपर गुरु इस अंशको किसी समय भी लौटा ले सकते हैं। परंतु इसमें शिष्यको वञ्चित करना पड़ता है, अतएव कृपामय गुरु ऐसा क्यों करेंगे। शिष्यकी मृत्युके साथ ही गुरुका मन शिष्यके मनको आकर्षणकर अपनी कायामें लौट आता है। शिष्यका मन गुरुके मनके साथ मिलकर अपने कर्मके प्रभावसे जितनी उन्नति करता है, गुरुस्थानमें आकर गुरुकी कायामें उसे तदनुरूप ही स्थान प्राप्त होता है। इस स्थानमें आनेपर अर्थात् गुरुकायामें स्थान प्राप्त करनेपर वह अजर और अमर सत्तामें सत्तावान् होकर मृत्युराज्यसे तर जाता है। इधर गुरुके द्वारा प्रेरित मनका अंश भी गुरुके मूल मनमें स्थान प्राप्त कर लेता है।

शिष्यके देहमें रहते समय वस्तुतः गुरुका मन ही कर्म करता है, पर करता है शिष्यकी काया और मनके साथ एक सूत्रमें जुड़कर ही; किंतु गुरुमें अभिमान न होनेके कारण तथा शिष्यमें स्वकायाका अभिमान विद्यमान रहनेके कारण, यह कर्म शिष्यके कर्मके रूपमें ही गिना जाता है तथा उसका फल भी शिष्यको ही प्राप्त होता है। गुरुकृपायुक्त कर्मका स्वरूप ही यह है।

जो योगी जितने अधिक लोगोंको कायप्रवेशद्वारा अपना सकते हैं, उतनी ही अधिक संख्यामें मन उनमें मिल जाते हैं तथा उतने ही अधिक व्यापकरूपमें वे विश्वकल्याण करनेमें अपनी क्रियाशक्तिका प्रयोग कर सकते हैं। कायप्रवेश न कर सकनेपर ठीक-ठीक दूसरोंका उपकार नहीं किया जा सकता एवं खण्ड आत्मा अनेकोंको अपनाकर विशाल नहीं बन सकता।

उनका पता

समयका विस्तार अथाह है, गगनका लगता किसको पता।
रवि शशाङ्क बता सकते नहीं, क्षितिजमें उगते कितने उडु॥
जब पता इनका न लगा कभी, फिर लगा सकना उनका पता।
मनुजके बलके अति है परे, हरि-कथा अति गूढ़ विचित्र है॥

—बाबा मङ्गलदास

भौतिक और आध्यात्मिक धन

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

मनुष्यका धन दो प्रकारका होता है—एक भौतिक और दूसरा आध्यात्मिक। दोनों ही प्रकारके धनका सञ्चय तपस्या और सतत प्रयत्नसे होता है। जो व्यक्ति भौतिक धनका सञ्चय करना चाहता है, उसे इसके लिये घोर परिश्रम करना पड़ता है। धन खर्च न हो, इसके लिये उसे अपने आपको अनेक प्रकारकी विलासिता और सुखके प्रलोभनोंसे रोकना पड़ता है। उसे अपनी इन्द्रियोंका संयम करना पड़ता है। विलासी और खाऊ-उड़ाऊ व्यक्ति धनी नहीं हो सकता। धन सञ्चय करनेवाला व्यक्ति न केवल अपने-आपके ऊपर कड़ा प्रतिबन्ध लगाता है वरं अपने आश्रितोंपर भी कड़ा प्रतिबन्ध लगाता है। वह जहाँ कहीं पैसा खर्च करता, अपने मतलबसे करता है। व्यर्थ खर्च कहीं पैसेका भी नहीं होता।

लेखक एक बार अपने एक धनी मित्रके भतीजेके विवाहमें जा रहा था। ये मित्र करोड़पति हैं। ऐसे तो लेखकको एक करोड़पतिको अपना 'मित्र' कहना हीं न चाहिये; क्योंकि करोड़पतिका मित्र कोई करोड़पति ही हो सकता है और वास्तवमें करोड़पति किसीको अपना मित्र बनाता ही नहीं। पर सभी लोगोंके प्रति मैत्री-भावनाका अभ्यास करनेवाला व्यक्ति करोड़पतिको भी अपना मित्र ही मानता है। जबतक लेखक इस करोड़पति मित्रके साथ रहा, उसने उसके साथ उसी प्रकार व्यवहार किया, जिस प्रकार वह अपने निर्धन जुलाहे मित्रके साथ करता है। वह मित्र भी उसी प्रकार उसकी बातें सुननेके लिये उत्सुक रहता था, जिस प्रकार लेखकके गरीब मित्र उत्सुक रहते हैं और अपने विचारोंको प्रकाशित करके उसे इसी प्रकार संतोष होता था, जिस प्रकार एक गरीब किसानको लेखकके समक्ष अपने विचार प्रकाशित करके सुख होता है। हमारा 'मित्र' वही है, जिससे हम अपने गम्भीरतम विचारोंका आदान-प्रदान कर सकें और जिसके साथ रहनेसे अपने-आपको ऊँचा उठा सकें।

अस्तु, जब वे मित्र इस काममें लगे थे, तबसे हजारों लोग उनके घरपर एकत्रित हुए थे। भतीजेके पिता मर चुके थे, अतएव मित्रको ही भतीजेके विवाहका पूरा इंतजाम करना पड़ा। बारात ले जानेके लिये एक पूरी गाड़ी रिजर्व करा ली गयी थी। गाड़ी स्टेशनसे एक बजे दिनको छूटनेवाली थी। यह मईका महीना था और कड़ाकेकी धूप पड़ रही थी। इस समय सभी सामान रेलगाड़ीपर लादा जा रहा था और बाराती-लोग इधर-उधर दौड़ते नजर आते थे। कोई अपना सामान रखवाते और कोई साथियोंको खोजते दिखायी देते थे। इन बारातियोंमें इस मित्रका गोद लिया हुआ लड़का भी था। यह दत्तक पुत्र विवाहित होनेवाले लड़केका सगा छोटा भाई था। अतएव इसे विवाहमें सबसे अधिक खुशी होनी स्वाभाविक होगी। इस अवसरपर उसे सबसे अधिक सजा-धजा रहना चाहिये था। पर वास्तवमें ऐसा नहीं देखा गया। वह एक सादा कुरता पहने नंगे पैर धूपमें अन्य लोगोंके समान इधर-उधर दौड़ता दिखायी दिया। उसकी उम्र चौदह सालके लगभग थी। उसे नंगे पैर स्टेशनके तपे पत्थरोंपर चलते हुए देखकर लेखकके मनमें वेदना हुई। यह बालक कभी-कभी लेखकसे कुछ पढ़ भी लेता था; अतएव जैसा दुःख लेखकको अपने दूसरे विद्यार्थियोंके कष्टका होता है, उसी प्रकारका कष्ट इसके कष्टका भी हुआ। उसके पिता जब रेलमें बैठ गये, तब लेखकने उनसे पूछा कि 'इस लड़केके जूते क्या हो गये? उसको धूपमें चलनेमें बड़ा कष्ट होता होगा।' उस बालकके पिताने तुरंत जवाब दिया, 'यह लड़का बड़ा लापरवाह है, वह अपने जूतोंको दो ही दिनोंमें खो देता है। उसने हालमें ही अपने नये जूते खो दिये। अब उसके पास जूते नहीं हैं और उसे इसके कारण पैर जलनेका अनुभव होता होगा। वह अब समझ जायगा कि जूता कितनी कीमती वस्तु है और उसके खोनेका क्या अर्थ होता है।'

लेखकके मित्रने जो कुछ कहा था, वह उसके दृष्टिकोणसे ठीक ही था। धनका सञ्चय इसी प्रकार होता है। उसका उक्त विचार उसके प्रतिदिनके अभ्यासके अनुसार ही था। धन सञ्चय करनेवाले सभी व्यापारी अपने पुत्रोंको धन एकत्र करनेकी विधि निम्नलिखित कथाके रूपमें (जिसे अपने मित्रसे ही लेखकने सुना) सुनाते हैं और वे अपनी सन्तानसे आशा करते हैं कि इस कथासे शिक्षा ग्रहण करें।

एक लखपती व्यापारीने मरते समय अपने दो पुत्रोंको अन्तिम उपदेश देनेके लिये बुलाया। उसने कहा 'पुत्रो! यदि तुम धनी बने रहना चाहते हो और अपने धनकी वृद्धि करना चाहते हो तो निम्नलिखित चार बातें करते रहना। पहली बात है अपनी दूकानपर छाँह-छाँह जाना और छाँह-छाँह

आना। दूसरी, मीठा करके खाना; तीसरी, नरम करके सोना और चौथी बात है जो पैसा किसीको देना तो उसे माँगना नहीं।' इतना कहकर पिता मर गये। बड़े भाईने पिताके कथन-का शाब्दिक अर्थ पकड़कर उसके अनुसार आचरण किया और वे थोड़े ही दिनोंमें निर्धन हो गये। छोटा कुछ दिनतक सोच-विचार करता रहा। अपने भाईको निर्धन होते हुए देख उसने पिताके कथनका गूढ़ अर्थ समझनेकी चेष्टा की। उसने जाना कि पहली बातका अर्थ है—दूकानपर सबेरे जाना और दिनभर वहीं रहकर सन्ध्या-समय लौटना; दूसरीका अर्थ है कि खूब भूख लगनेपर खाना; तीसरी बातका अर्थ है कि खूब थक जानेपर सोना और चौथी बातका अर्थ है—जिसे रुपया दिया जाय, उससे कुछ वस्तु गिरवी रखा ली जाय, जिससे रुपये पानेवालेको ही उसे चुकानेकी चिन्ता रहे, अपने आपको उसके विषयमें चिन्ता करनेकी आवश्यकता ही न हो।

उपर्युक्त कथा स्पष्ट करती है कि धन-सञ्चयके लिये मनुष्यको कितने त्याग और तपस्याकी आवश्यकता होती है। सतत प्रयत्नसे ही धन-सञ्चय होता है। जो व्यक्ति धन-सञ्चय-के लिये परिश्रम नहीं करते, जो विलासिता और आरामका जीवन व्यतीत करने लगते हैं, वे अपने बाप-दादोंका सञ्चित धन खो देते हैं। जिस प्रकार बूँद-बूँद जल एकत्र होकर तालाब भरता है, उसी प्रकार एक-एक पैसेके जोड़नेसे धनीलोगोंका खजाना भरता है। जो व्यक्ति अपने पैसोंके खर्च करनेमें लापरवाही करते हैं, वे कभी भी धनी नहीं हो सकते। उनका अभ्यास ही उनके धनको नष्ट कर देगा।

जिस प्रकारका सतत प्रयत्न भौतिक धनके उपार्जन, सञ्चय और संरक्षणके लिये संयमके रूपमें करना पड़ता है, उसी प्रकारका प्रयत्न आध्यात्मिक धनके सञ्चयमें करना पड़ता है। जितना आत्म-संयम भौतिक धनके इकट्ठा करनेके लिये आवश्यक है, उससे कहीं अधिक आत्म-संयम आध्यात्मिक धनके सञ्चयके लिये आवश्यक होता है। जब किसी धनी दूकानदारको कोई ग्राहक ऊँची-नीची सुना जाता है, तब वह शान्तिसे उसकी बातों-को सुन लेता है। वह उसके द्वारा किये गये अपमानका प्रतीकार करनेकी चेष्टा नहीं करने लगता। जो दूकानदार ऐसा नहीं करते, वे अपने आपको थोड़े ही कालमें बरबाद कर डालते हैं। मीठी बोली न बोलनेवाले और दूसरोंके कटुवाक्य न सह सकनेवाले दूकानदारके पास कोई नहीं जाता।

आध्यात्मिक धन-सञ्चयके लिये मनुष्यको अपने क्रोधको सामान्य दूकानदारसे कहीं अधिक सम्हालना पड़ता है। उसे अपने निन्दकोंको प्यारकी दृष्टिसे देखना पड़ता है! जिन्हें सामान्य लोग शत्रुके रूपमें देखते हैं, उन्हें वह अपना मित्र मानता है। महात्मा कबीर कहते हैं—

> निंदक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
> बिन पानी साबुन बिना निर्मल करै सुभाय॥

अतएव सभी लोगोंको कल्याणकारी मानकर आध्यात्मिक धनके प्रेमीको किसीके प्रति भी बुरी भावना नहीं लानी होगी।

यह आध्यात्मिक धन क्या है? भौतिक धन तो दृष्टि-गोचर है, अतएव इसे सभी लोग जानते हैं। जिस व्यक्तिके बहुत-से मकान हैं, घोड़े, हाथी, मोटरें आदि हैं और बैंकमें बहुत रुपये जमा हैं, बहुत-से नौकर काम करते हैं, उसे प्रायः धनी व्यक्ति कहा जाता है। आध्यात्मिक धनवाले व्यक्तिको पहचानना इतना सरल नहीं है। यदि कहा जाय कि जिस व्यक्तिके पास उक्त सभी सामग्रियाँ नहीं हैं, वह आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है तो यह ठीक न होगा। फिर तो प्रत्येक गरीब, भिखारी आध्यात्मिक धनका प्रभु मान लिया जायगा। यदि ऐसा ही होता तो आध्यात्मिक धन कमानेके लिये परिश्रमकी और सतत प्रयत्नकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती। धन न कमानेवाले सभी निकम्मे लोग अपने-आपको आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी मान लेते। पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। जिन लोगोंके पास भौतिक धन नहीं होता और न आध्यात्मिक धन ही होता है, वे भौतिक धनवाले लोगोंके प्रति डाह करते हैं। जो धनहीन लोग धनी लोगोंके धनकी ईर्ष्या करते हैं और इस कारण उनका विनाश करना चाहते हैं, वे वास्तवमें आध्यात्मिक दृष्टिसे सर्वथा निर्धन हैं। जिन लोगोंको भौतिक धनकी इच्छा ही नहीं, और उसके मिल जानेपर वे उसे दूसरे लोगोंमें अनायास बाँट देते हैं, जो सदा आत्मसन्तोषकी एक-रस अनुभूति करते रहते हैं, वे ही आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी कहे जा सकते हैं। इस प्रकारके धनके स्वामी भूमण्डलमें सदा वर्तमान रहते हैं, यद्यपि ये थोड़ी संख्यामें होते हैं; पर उनकी खोज करना आवश्यक होता है। क्योंकि वे जो कुछ करते हैं, सब सहज स्वभावसे ही करते हैं, विज्ञापनके लिये नहीं।

जब हालैंड देशके तत्त्ववेत्ता स्पैनोजासे धनके लिये उसकी बहिनने झगड़ा किया तब वे उससे मुकद्दमा लड़े। स्पैनोजा वेदान्तके विचारके थे और इस कारण वे अपने यहूदी-समाजसे बहिष्कृत कर दिये गये थे। उनकी इस आपत्तिका लाभ उनकी बहिन उठाना चाहती थी। स्पैनोजाने उसकी इस कलुषित भावनाको नष्ट करनेके लिये उससे

मुकद्दमा लड़ा। पर जब वे उस मुकद्दमेमें जीत गये और सरकारने बापकी सारी सम्पत्ति उन्हें सौंप दी, तब उन्होंने उस सम्पत्तिको अपनी बहिनको दे दिया। जब स्पैनोजाने ख्याति प्राप्त कर ली, तब फ्रांसके राजा चौदहवें लुईने उन्हें चौदह हजार फ्रैंक वार्षिक पेंशनके रूपमें देकर सम्मानित करना चाहा। स्पैनोजाने यह कहकर उस पेंशनको लेना अस्वीकार कर दिया कि 'मैं इतने रुपयोंका क्या करूँगा। मेरा खर्च बहुत ही कम है।' स्पैनोजाके अनेक धनी शिष्य थे; उनमेंसे एकने मरते समय अपने गुरुको ही अपनी सारी सम्पत्तिका उत्तराधिकारी बना दिया। स्पैनोजाने इसे स्वीकार कर लिया। पीछे उन्होंने इस धनको उसी शिष्यके सम्बन्धियोंमें बाँट दिया। एक बार जब उनके कपड़े पुराने हो गये थे, तब उनके एक शिष्यने उन्हें नये रेशमी कपड़े देने चाहे। स्पैनोजाने इन्हें लेना स्वीकार नहीं किया। जब उस शिष्यने अधिक आग्रह किया तब उन्होंने कहा, 'क्या तुम चाहते हो कि मैं इस मिट्टीके पुतलेकी इतनी इज्जत करूँ कि इसे मखमल और रेशममें लपेटकर रक्खूँ? आखिर इस शरीरको मिट्टीमें ही तो मिल जाना है।'

उपर्युक्त संतका आचरण आध्यात्मिक धन-सञ्चयकी स्थितिको बतलाता है। जिसे किसी भौतिक लाभकी चाह नहीं, जो संसारके धनीलोगोंकी निन्दा नहीं करता और न उनका विनाश ही चाहता है वरं उन्हें दयाका पात्र समझता है, वही आध्यात्मिक धनका स्वामी कहा जा सकता है। आध्यात्मिक धनका स्वामी अधिक धन प्राप्त होनेपर प्रसन्न न होकर उसे एक प्रकारकी झंझट ही मानता है। एक बार एक साधुके पास, जो जंगलमें अपनी कुटियामें अकेला रहता था और जो गाँवके लोगोंकी दी हुई रोटी खाकर अपना जीवननिर्वाह करता था, एक धनी व्यक्ति आया। उसने चाहा कि वह उस साधुकी कई दिनोंके लिये भोजनकी व्यवस्था कर दे। इस दृष्टिसे उसने एक अशरफी निकालकर साधुको देनी चाही। जब उसने अपना हाथ साधुकी ओर बढ़ाया, तब साधुने उसके हाथमें अशरफी देखकर कहा, 'भैया! इस अशरफीकी मुझे आवश्यकता नहीं है। इसे तुम किसी गरीबको दे देना।'

साधुके उक्त वाक्यको सुनकर वह धनी व्यक्ति चकित हो गया। उसने सोचा कि 'इससे अधिक गरीब और कौन मनुष्य मिलेगा? यह तो प्रतिदिन गाँवके लोगोंकी दी हुई रोटी खाकर जीता है।' उसने फिर साधुसे पूछा, 'महाराज! मैं किस गरीबको इसे दे दूँ?' साधुने जवाब दिया, 'अभी थोड़ी देर ठहर जा; इधरसे एक गरीब प्रतिदिन निकलता है, उसीको यह अशरफी दे देना।' वह थोड़ी देर ठहर गया, इतनेमें उस प्रान्तके राजाकी सवारी वहाँसे निकली। साधुने कहा, 'देख, वह गरीब आ गया, जा, उसके सामने जाकर इस अशरफीको दिखाना; वह तेरे हाथसे इसे उठा लेगा।' उस धनी व्यक्तिने ऐसा ही किया। राजाको जब उसने अपने हाथमें अशरफी रखकर दिखायी, तब उसने उसे भेंट समझकर ले लिया।

भौतिक धन मनुष्यके पास कितना ही हो, जबतक उसे इस धनकी चाह है, तबतक वह गरीब ही बना हुआ है। इस धनके बढ़नेसे धनकी चाह कम नहीं होती, अपितु और भी बढ़ जाती है। जो व्यक्ति धनीलोगोंकी खुशामद करता है, अथवा उनसे ईर्ष्या-वैर करता है, वह भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही दृष्टियोंसे निर्धन है। इस प्रकारकी निर्धनता मनुष्यको भारी दुःख देती है। वह सदा असन्तुष्ट रहता है। इस असन्तोषको मिटानेके लिये ही मनुष्य भौतिक धनका सञ्चय करता है। देखा गया है कि साधारणतः धनी लोगोंकी निन्दा करनेवाले लोगोंको जब धन मिल जाता है, तब वे भी उसी प्रकार धनके गुलाम हो जाते हैं जिस प्रकार दूसरे धनी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि निर्धन होना ही पुरुषार्थ नहीं। आध्यात्मिक धन तात्त्विक वस्तु है। इसके प्राप्त होनेपर ही मनुष्य अपनी निर्धन अवस्थामें भी प्रसन्नचित्त रहता है। वह अपने आपको संसारके बादशाहके समान सुखी और भाग्यवान् मानता है। ऐसे लोगोंके ही बारेमें कबीर कहते हैं—

चाह गई, चिंता गई, मनुआ बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिये, वे नर शाहंशाह॥

जबतक मनुष्य दैन्यभावसे मुक्त नहीं होता, तबतक उसे आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी नहीं माना जा सकता। जिस व्यक्तिके पास आध्यात्मिक धन होता है, उसमें भौतिक धनके लेनेकी इच्छा नहीं वरं उसे देनेकी ही इच्छा रहती है। वह दूसरोंकी सेवा धनप्राप्तिके लिये नहीं, वरं उन्हें प्रसन्न करने—उनका हित करनेमात्रके लिये ही करता है।

ऊपर आध्यात्मिक धनवाले व्यक्तिके कुछ लक्षण बताये गये हैं। इससे आध्यात्मिक धनका कुछ परिचय प्राप्त होता है। जिस प्रकार भौतिक धन भौतिक वस्तुओंका होता है, आध्यात्मिक धन मनुष्यके विचारोंका होता है। किसी मनुष्यके मनमें जबतक विचार है और जहाँतक वह दूसरोंके हितकी

कामना अपने मनमें रखता है, वहींतक वह आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है। भौतिक धनकी वृद्धिसे मनुष्यमें अपने आपके विषयमें चिन्ता करनेका अभ्यास बढ़ता है, आध्यात्मिक धनकी वृद्धि होनेपर वह अपने-आपके स्वार्थको विस्मरण करना सीखता है और दूसरोंको सुखी बनानेके लिये ही सदा चिन्तन करता रहता है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरे लोगोंके कष्टनिवारणके लिये स्वभावसे ही तत्पर रहता है, वह उतना ही आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी है। महात्मा बुद्ध, ईसा, सुकरात, स्वामी विवेकानन्द आदिके पास एक पैसा भी नहीं था। पर वे आध्यात्मिक दृष्टिसे धनी थे, क्योंकि वे अपने आपको भूलकर संसारके दुःखोंके विनाशमें ही सदा लगे रहते थे।

आध्यात्मिक धनकी एक परख यह है कि इस धनका स्वामी दूसरोंका प्यारा होता है। वे उसे हृदयसे चाहते हैं। भौतिक धनके स्वामीको अपने भाई, पुत्र और स्त्री भी हृदयसे नहीं चाहते। वह सदा उन्हें सन्देहकी दृष्टिसे देखता है; इसके कारण वे भी उससे वहींतक प्यार करते हैं, जहाँतक उन्हें धनका लाभ उससे होता है। यदि धनके स्वामीका धन एकाएक चला जाय तो फिर उसे कोई नहीं पूछता। अतएव ऐसे व्यक्तिका बुढ़ापेमें धन खो जानेपर वह मर ही जाता है। पर आध्यात्मिक धनके स्वामीको अपने आपके प्रेमियोंसे तिरस्कृत होनेका कोई भय नहीं रहता। मनुष्य जैसे विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजता है, उसे वैसे ही विचार उससे मिलते हैं। यदि हम वैर, द्वेष और सन्देहके विचार दूसरे व्यक्तिके पास भेजें तो हमें भी वैर, द्वेष और सन्देहके विचार ही मिलेंगे और यदि हम प्रेम और विश्वासके विचार उनके पास भेजें तो उनसे भी हमें प्रेम और विश्वासके विचार ही मिलेंगे। एक प्रकारके विचारोंसे जीवनका नाश होता है और दूसरे प्रकारके विचारोंसे उसकी वृद्धि होती है। मनुष्यका स्वभाव अभ्यासका दास है। जिस मनुष्यका अभ्यास जैसा हो जाता है, उसके पास वैसे ही विचार स्वभावतः आते हैं।

किसी भी व्यक्तिको दूसरे लोग इसलिये प्यार करते हैं कि उस व्यक्तिसे दूसरोंको कुछ मिलता है। धनी मनुष्यके पीछे लोग धन पानेकी आशासे लगते हैं और संत-महात्माओंके पीछे भले विचार पानेकी आशासे। प्रत्येक मनुष्यके जीवनकी मौलिकता उसके दान कर सकनेकी शक्तिपर निर्भर करती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक देनेकी अपने-आपमें क्षमता रखता है, वह उतना ही महान् है। दान कई प्रकारका होता है—धनका दान, विद्याका दान और सद्भावनाका दान आदि। धनका दान उत्तम है, पर उससे भी उत्तम विद्यादान है। धन मनुष्यके बाहरी सुखको बढ़ाता है, पर विद्यासे उसके मनका सुधार होता है। यदि किसी मनुष्यके पास विद्या है तो वह धन भी कमा सकता है। पर इन दोनों प्रकारके दानोंसे भी उत्तम दान सद्भावनाका अर्थात् प्रेमका दान है। इससे दूसरे मनुष्यके हृदयका परिवर्तन हो जाता है। धनके दानसे मनुष्य धनी कहलाता है, विद्यादानसे विद्वान् कहलाता है और सद्भावनाके दानसे वह महात्मा बन जाता है। जो पदार्थ हम दूसरोंको देते हैं, वे हमें भी शीघ्रतासे प्राप्त हो जाते हैं और बीज-फलन्यायसे बहुत बढ़कर मिलते हैं।

सभी प्रकारके दानोंमें सद्भावनाकी आवश्यकता होती है। बिना सद्भावनाके सभी दान निरर्थक हैं। हम सद्भावनाका दान अपने प्रत्येक कार्यके द्वारा कर सकते हैं। किसी व्यक्तिसे बोलने, उसके साथ उठने-बैठने, उसके विषयमें चिन्तन करने आदि कार्योंमें हम उसे अपनी सद्भावना दे सकते हैं। धनका दान, भोजनदान और विद्यादान भी अपनी सद्भावनाके प्रकट करनेके उपाय हैं।

मनुष्यका आध्यात्मिक धन उसका अभ्यास है। हमारे विचारोंका प्रवाह हमारे अभ्यासके ऊपर निर्भर करता है। जैसे विचार हम अपने मनमें सदा आने देते हैं, वैसे ही विचार बार-बार हमारे मनमें आते रहते हैं। जब हम किसी बुरे विचारको अपने मनमें लाते हैं, तब वह भी अपनी दूषित मनोवृत्तिके कारण उस समय हमें भला ही लगता है। पर वह हमारे मनको क्लेशकी अवस्थामें छोड़ जाता है। बार-बार अपने मनमें बुरे विचारोंको लानेसे मन इतना निर्बल हो जाता है कि फिर यदि हम उन विचारोंका मनमें आना रोकना भी चाहें तो वे विचार रुकते नहीं। मानसिक रोगकी अवस्थामें रोगीके मनमें कोई अभद्र विचार घुस जाता है और फिर वह रोकनेका प्रयत्न करनेपर भी नहीं रुकता। वह मनुष्यको बहुत भारी त्रास देता रहता है। ऐसी अवस्थामें सुखकी सभी बाह्य सामग्री उपस्थित होनेपर भी वह व्यक्ति सुखका उपभोग नहीं कर पाता। इस प्रकारके विचारोंको रोकनेके लिये कई दिनों तक उसके विपरीत अभ्यासको करना पड़ता है। दूसरोंके विषयमें कुचिन्तन करनेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्तिका ह्रास हो जाता है। इसके ह्रास हो जानेपर फिर मनुष्य अपने ही विषयमें कुचिन्तन करने लगता है। उसके विचार आत्मविनाशक बन जाते हैं। अतएव हर समय अपने विचारोंको देखते रहना आवश्यक है। अपने मनके दरवाजेपर सदा-सर्वदा एक सावधान और नित्य जाग्रत् पहरेदार बैठा देना चाहिये, जो बुरे विचारोंका आना रोके और भले विचारोंका स्वागत करे। इस प्रकार अपने सञ्चित आध्यात्मिक धनकी रखवाली होती है।

उपनिषद्-अध्ययनके लिये अपेक्षित दृष्टिकोण

(लेखक—श्रीजीन हर्बर्ट)

सन् १८०१ में ऐंक्वेटिल ड्यूपेरनने लैटिनमें कईएक उपनिषदोंका अनुवाद प्रस्तुत किया। यूरोपीय भाषाओंमें उपनिषदोंके अनुवादका यह प्रथम प्रयास था। इतिहास-वेत्ताओं, धर्मोपदेशकों और भाषाशास्त्रियोंके लिये यह एक चमत्कृत कर देनेवाली और बिल्कुल नयी चीज तो थी ही। तत्त्वज्ञानके अनुसन्धानकर्ताओंको भी एक बड़ी निधि प्राप्त हुई। परंतु अपेक्षाकृत अल्पकाल तक ही उनके मन्त्रोंमें वास्तविक उपदेशोंको ढूँढ़ निकालनेके निमित्त छानबीन की गयी और पश्चिमके महत्तम विद्वानोंमेंसे कुछने ही उनके अध्ययनसे लाभ उठाया तथा इसे उदारतापूर्वक स्वीकार भी किया। पर प्रबल प्रतिक्रिया भी शीघ्र ही आरम्भ हो गयी। ईसाई धर्मके प्रतिनिधियोंको यह सम्भावना बड़ी कड़वी लगी कि ईसाका चरित-चतुष्टय उपनिषदोंकी आध्यात्मिक शिक्षाका मूलस्रोत नहीं हो सकता। ग्रीस देशके विद्वानोंसे यदि बढ़कर नहीं तो कम-से-कम उनकी ही-जैसी मूल्यवान् दार्शनिक पद्धतियाँ उनसे सैकड़ों वर्ष पहले प्रकट हो चुकी हैं, ऐसी सम्भावनासे पश्चिमीय सभ्यताके ठेकेदारोंको अपना गर्व खर्व होता दिखायी दिया और वे चिढ़ उठे। गोरी जातियोंकी गुरुता तथा राजनीतिक, आर्थिक एवं अन्य सभी क्षेत्रोंमें उनकी श्रेष्ठताकी वकालत करनेवालोंको यह बात असह्य हो गयी कि मानवजातिके विकास-मार्गमें बहुत पीछे रहनेवाली जंगली श्वेतेतर जातियाँ भी कुछ होनेका दम भर सकती हैं!

उपर्युक्त प्रवृत्तियोंके स्वाभाविक परिणामस्वरूप इस ज्ञाननिधिपर जान-बूझकर तौल-तौलकर आघात होने लगा। इस आक्रमके महारथी थे—पश्चिमके बड़े-बड़े विद्वान्, जैसे भाषाओंके आधारपर प्राचीन जातियोंकी संस्कृतिके अन्वेषक, कर्मोंके तुलनात्मक विवेचन नामक एक नवीन 'शास्त्र'के विद्यार्थी, प्राच्य-विद्या-विशारद तथा पुरातत्त्ववेत्ता। अपनी संस्कृतिके गौरवकी रक्षाके लिये इन लोगोंने अच्छे-से-अच्छे तर्कोंकी सेना तैयार की और यथासम्भव बड़ी फुर्तीसे लोगोंकी दृष्टिको अवान्तर दिशाकी ओर फेर दिया।

भाषाशास्त्री संस्कृतकी वाक्यरचना-प्रणाली एवं शब्द-व्युत्पत्तिके अध्ययनके पीछे पड़े। इस अध्ययनसे उन्हें तुलनात्मक भाषाशास्त्रका प्रासाद खड़ा करनेको एक आधारशिला अवश्य प्राप्त हुई। और स्वयं इस शास्त्रमें कोई दोष नहीं, पर इसके प्रचारसे संस्कृत ग्रन्थों (तथा आधुनिक पश्चिमीय भाषाओंमें उनके अनुवादों) का अध्ययन केवल वैयाकरणों-तक ही सीमित रह गया। अब भी संस्कृतके प्रायः सभी विद्यार्थियोंका ध्येय भाषाशास्त्रमें ही प्रमाणपत्र प्राप्त करनेका रहता है; अतएव वे केवलमात्र व्याकरणके ही अध्ययनसे प्रयोजन रखते हैं। इसका शोचनीय परिणाम यह हुआ कि कुछको छोड़कर और सभी अनुवादोंमें परमपावन मन्त्रोंके दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अर्थोंकी अनुदार अवहेलना हुई। जब उनका व्याकरण-ज्ञान नितान्त निष्प्रयोजन अर्थों-की सिद्धि करता है, तब जैसा कि भारतीय संस्कृति आदिके हमारे एक बड़े विद्वान्‌ने कहा है—'भोली बुद्धिवाले आर्योंसे' और आशा ही क्या की जा सकती थी। उनकी समझमें कभी यह बात आ ही नहीं सकती कि इन ग्रन्थोंका अनुवाद या अध्ययन करते समय यह मान लें कि इनके वाक्योंमें एक गम्भीर अर्थ निहित है, जिसे जान-बूझकर बड़ी सावधानीसे चुने हुए शब्दों, पदावलियों एवं रूपकोंमें छिपाकर रक्खा गया है। उनकी व्याकरणाश्रयी पद्धतिका व्यवहार यदि होमर, ब्लेक या दान्तेके साथ किया जाय तो विद्वन्मण्डली क्रोधके मारे दाँत पीसने लगेगी। इस प्रकार किये हुए भद्दे-से-भद्दे और अशुद्ध अनुवादोंपर पश्चिमके धुरन्धर विद्वानोंने अपनी सम्मतिकी पूरी-पूरी छाप लगा दी है और हिंदू-शास्त्रोंके पवित्र गौरवको भारी धक्का पहुँचाया है।

'तुलनात्मक धर्म' के विद्यार्थियोंने आक्रमणकी एक और ही प्रणालीको अपनाया। उन्होंने पहले ही एक अकाट्य सिद्धान्त मान लिया कि कोई धर्म जितना ही पुराना है, उसे उतना ही आदिकालीन अर्थात् विकासकी शैशवावस्था-में और अपरिपक्व समझना चाहिये। इस प्रकार वेद और उपनिषद् उसी कोटिमें आ गये, जिसमें आस्ट्रेलिया तथा मध्य अफ्रीकाकी जंगली जातियोंकी अस्फुट मान्यताएँ गिनी जाती हैं। इतना ही नहीं, भारतीय ऋषियोंकी मानसिक प्रक्रियाको समझना हो तो जंगली जातियोंकी उन मान्यताओं-का, जो आज भी अपने पुराने रूपमें प्रचलित हैं, अध्ययन करना आवश्यक है। इन विज्ञानवेत्ताओंने एक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान कर डाला है। इसका नाम है 'सौर उपाख्यान' (Solar Myth)। उनका कहना है कि प्राचीन और

अर्वाचीन जगत्में उपलब्ध सभी 'आदिकालीन' धर्मोंका आधार यही है। हिंदू-शास्त्रोंमें सूर्य, सवितृ, उषस् तथा कई अन्य देवताओंका, जिनकी सौर मूर्तियोंसे ही भौतिक जगत्में अभिव्यक्ति होती है, नाम बराबर आया है। हिंदूधर्मको आदिकालीन कहनेकी पुष्टिमें यह बड़ा मूल्यवान् प्रमाण माना गया है। इसलिये 'तुलनात्मक धर्म' के प्रत्येक ग्रन्थ एवं अध्यापकके लिये यह एक निर्विरोध तथ्य है कि प्राचीन आर्यलोग भौतिक शक्तियोंके स्थूल रूपके उपासक थे और उनकी दृष्टि इससे आगे नहीं गयी थी।

उपर्युक्त दोनों कुचेष्टाओंने इस बातको सिद्ध कर दिया कि भारतीय किसी भी वस्तुका अध्ययन पुरातत्त्व-साहित्यके क्षेत्रका विषय है। वह उसी कोटिमें है, जिसमें एशिया-माइनर अथवा यूकेटानकी प्राचीन मृत सभ्यताओंके विषयमें हमारा अल्पज्ञान। इसलिये यदि कोई यह कहता है कि भारतीय ज्ञानराशिमें भी प्रकाशकी ऐसी किरणें प्राप्य हैं, जो इस विज्ञानालोकित युगके कामकी हो सकती हैं, तो यह बात निरी मूर्खता और लड़कपनकी जान पड़ती है। यदि 'देशी आलोचकों' (फ्रांसके एक वर्तमान महान् प्राच्य-विद्या-विशारदके द्वारा श्रीअरविन्दके लिये प्रयुक्त विशेषण) ने कुछ लिखा तो उसका कोई मूल्य नहीं; वह निरर्थक है। केवल परम प्रवीण पाश्चात्य पण्डित ही प्राचीन भारतके धूलि-धूसरित एवं दीमकोंके खाये हुए ग्रन्थोंको पढ़ने तथा समझानेकी योग्यता रख सकते हैं। देशी विद्वान् उसी प्रकार अयोग्य हैं, जैसे मिस्रदेशका आधुनिक ग्रामनिवासी, जो वहाँके प्राचीन राजवंशकी समाधियोंसे प्राप्त ताड़पत्रोंको पढ़नेमें कोई सहायता नहीं दे सकता।

भारतीय आध्यात्मिक ज्ञानकी प्रतिष्ठाको नीचे गिरानेमें यात्रियों और ईसाई पादरियोंका भी बहुत बड़ा हाथ है। उन्होंने उन आचार-विचारोंकी, जिनका कि वे केवल बाहरी रूप देख सकते थे, जी भरकर खिल्ली उड़ायी है। इनमें कुछ और भी अर्थ निहित होगा, इसकी तो वे कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने कहा कि गोल पत्थरोंके उपासक, बंदर-हाथीके सिरवाले राक्षस तथा रुधिराशना काली एवं नंगी स्त्रीकी पूजा करनेवाले लोग भी क्या गम्भीर विचारका विषय बननेकी सम्भावना कर सकते थे? कुछ दिन हुए जिनेवा (स्विजलैंड) विश्वविद्यालयके दर्शनके अध्यापकने अपने विद्यार्थियोंको यह विचित्र बात बताकर खूब हँसाया कि हिंदू-मान्यताके अनुसार पृथ्वी एक हाथीपर टिकी हुई है, हाथी कछुएपर खड़ा है और कछुआ पता नहीं किस आधारपर स्थित है। इस पौराणिक कथामें जो गम्भीर तत्त्वज्ञान तथा विज्ञान छिपा है, उसके अणुमात्रका भी पता न तो विद्यार्थियोंको था और न अध्यापक महाशयको। विश्व स्थूल भौतिक शक्ति (हाथी) पर टिका है; इसका आधार दुर्बोध सूक्ष्म शक्तियाँ (कछुआ) हैं और वे स्वयं उपनिषदोंके अज्ञात, अनिर्वचनीय एवं एक अखण्ड ब्रह्मपर अवलम्बित हैं। यह व्याख्या भौतिक शास्त्र एवं रसायनशास्त्रके नवीनतम सिद्धान्तोंके उतनी ही समीप है, जितनी और भी कोई कल्पना हो सकती है। पर सभ्य कहानेवाली जाति उपेक्षाकी हँसीमें भाग लेनेमें कभी चूकती नहीं।

१९ वीं शताब्दीके वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक विचार-धारामें बहनेवाले तथा अपनी आविष्कृत भौतिक शक्तियोंके प्रदर्शनसे उसी विचारधारामें ग्रस्त पश्चिमी लोग भारतकी आध्यात्मिक शिक्षाओंमें कोई गम्भीरता न देख सकें तो कोई आश्चर्य भी नहीं। पर इससे भी अधिक दुःखकी और अस्वाभाविक बात यह है कि आज भी भारतीय नवयुवकोंका एक बड़ा समाज इस क्षेत्रमें पाश्चात्य आलोचकोंके ही पीछे आँख मूँदकर चल रहा है! उनके ध्यानमें यह बात नहीं आती कि जिस गहराईतक तथा सनातन सत्यके जितने समीप उनके शास्त्र जा चुके हैं, उतनी दूरीतक पश्चिमके धर्म, दर्शन, विज्ञान तथा कला-कौशल अभी नहीं पहुँच पाये हैं।

मेरा उद्देश्य यहाँपर उपनिषदोंकी मूल शिक्षाका परिचय देना नहीं है। पर एक पाश्चात्य व्यक्तिके नाते मैं इस विषयपर अपनी यह क्षुद्र सम्मति देनेकी अनुमति चाहता हूँ कि अपनी योग्यताके अनुरूप उपनिषदोंसे पूरा-पूरा लाभ उठानेके लिये किस दृष्टिकोणसे उनका अध्ययन अपेक्षित है—पश्चिमी विद्वानोंकी रीतिसे अथवा योगियोंकी प्रणालीसे।

भारतीय युवकोंसे मैं यह कह सकता हूँ कि ऐतिहासिक शोध, भाषावैज्ञानिक विश्लेषण, तुलनात्मक धर्म इत्यादि पाश्चात्य रीतियोंसे उपनिषदों या वेदमन्त्रोंका अध्ययन उसी प्रकार अस्वाभाविक और निष्प्रयोजन होगा, जैसे प्रसिद्ध गायक बीथोवेनके किसी सुन्दर पदको या महान् कलाकार लियोनार्डो डा विन्सीके किसी विख्यात चित्रको शल्य-चिकित्सककी छुरी अथवा रसायनशास्त्रीकी परख-नलियोंसे समझने बैठना। बड़े-बड़े लोगोंने इस मार्गपर चलकर असफलताको ही वरण किया है। इस प्रकार अनुपयुक्त

साधनोंद्वारा—भले ही वे और क्षेत्रोंके लिये परम उपयोगी हों—अर्थानुसन्धान करनेका अनिवार्य परिणाम होता है—अध्ययनकी मूल वस्तुका विनाश । जो कुछ सौन्दर्य, शिक्षा और गौरव उससे प्राप्त हो सकता था, उसे प्रदान करनेमें वह असमर्थ हो जाता है । प्रत्येक विषयका रहस्य जाननेके लिये उसमें उसके उपयुक्त मार्गसे प्रवेश करना चाहिये । साधारणतः नये यात्रियोंके लिये कम-से-कम कुछ दिनोंतक तो निष्कण्टक मार्ग वही है, जिसका उस विषयके आचार्योंने अनुसरण किया हो । इसके विरुद्ध चलना पाण्डित्य नहीं, प्रमादका परिचायक है । जो नियम इतिहास, दर्शन, त्रिकोणमिति या वनस्पतिशास्त्रके अध्ययनके लिये ठीक है, वही अध्यात्मके लिये भी । यह तो एक साधारण समझदारीकी बात है ।

अपने प्रस्तुत विषयके सम्बन्धमें ऐसी बात है कि सभी महान् आचार्योंकी सार्वभौम सम्मतिसे यहाँ बौद्धिक विश्लेषण, तर्क-वितर्क या वाद-विवादसे काम नहीं चलता; इसकी कुंजी है—नीरव निदिध्यासन । बिल्कुल भिन्न उद्देश्योंके लिये निर्मित पाश्चात्त्य नियमोंके प्रति अन्धश्रद्धाके कारण इस प्रणालीकी उपेक्षा करनेकी अपेक्षा इसका अनुसरण करके एक बार देखना तो चाहिये । जिन्होंने इसकी परीक्षा नहीं की है, उन्हें हिंदू-धर्मशास्त्रोंपर बोलनेका उसी प्रकार कोई अधिकार नहीं है, जैसे अंग्रेजीका एक शब्द भी न जाननेवालेको शेक्सपियरकी कवितापर । यह बात ठीक है कि एक ऊपरसे देखनेवालेको, कुछ शब्दों अथवा मात्राओंपर घंटों ध्यानमें बैठे रहना तथा शोधकी प्रचलित प्रणाली, जिसमें ग्रन्थागारोंके विशाल भाण्डारकी छान-बीन, तुलनाओं, विश्लेषण, संश्लेषण तथा नाना प्रकारकी बौद्धिक गवेषणाओंकी क्रियाका समुच्चय है, इन दोनोंमें बड़ा अन्तर दिखायी पड़ेगा । पर मेरी धारणा यह है कि मानव-जातिके विकासके इतिहासमें अधिकांश क्षेत्रोंमें की गयी गवेषणाएँ ऐसे लोगोंके द्वारा हुई हैं, जिन्होंने यह सत्य है कि पहले बहुत कुछ पढ़ा-लिखा और सब तरहकी प्रारम्भिक तैयारियाँ कीं, पर बादमें अपने विचार और वाञ्छाको विषयके एक सूत्रपर केन्द्रित कर दिया—ठीक उसी तरहसे जैसे कि पतञ्जलिने बताया है । हमको एक बात और भी याद रखनी चाहिये कि बहुत अल्पकाल पूर्वतक वेद लिपिबद्ध नहीं हुए थे और तबतक गुरुलोग शिष्योंको थोड़ा-थोड़ा करके पढ़ाते थे । उनकी गति इतनी ही होती थी कि शिष्यको जो कुछ पढ़ाया जाय, उसे वह ग्रहण करता जाय, आत्मसात् करता जाय तथा विषयका साक्षात्कार भी करता जाय । जिसने आरम्भके मौलिक सिद्धान्तोंको ग्रहण नहीं कर लिया है, उसे इन ग्रन्थोंकी ऊँची शिक्षाओंके मूल्यका निर्णय करने नहीं बैठना चाहिये—ठीक वैसे ही, जैसे प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाली पाठशालामें पढ़नेवाले बच्चेको नीहारिकाओंके सम्बन्धमें भौतिक विज्ञान क्या कहता है, इस विषयपर बोलनेका कोई अधिकार नहीं ।

बीसवीं शताब्दीकी शिक्षित बुद्धिके लिये उपनिषदोंपर ध्यान केन्द्रित करना शायद अपेक्षाकृत कुछ सरल हो; क्योंकि वैदिक स्तुतियों और पौराणिक कथाओंको समझना, ऊपरसे रहस्यका आवरण हटाना प्रायः बड़ा कठिन होता है जैसी कि अधिकांश व्यक्तियोंकी धारणा है, हिंदुओंका चार युगोंवाला सिद्धान्त, जिसके अनुसार उत्तरोत्तर युगोंमें सत्यका प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी मानवीय शक्तिका ह्रास होता जाता है । और फलतः मनुष्यको इच्छाशक्ति, बुद्धि एवं नियमादिका अधिकाधिक सहारा लेना पड़ता है, एकदम निस्सार नहीं है । कुछ ही वर्ष हुए फ्रांसके दो प्रसिद्ध वैज्ञानिकोंने 'L'évolution régressive' नामक पुस्तकमें इसकी सत्यताको स्वीकार किया । इस पुस्तकने, जिसकी भूमिका एक रोमन कैथलिक पादरीने लिखी थी, एक आन्दोलन उत्पन्न कर दिया था । और जब श्रीअरविन्द-जैसे विशाल और गम्भीर दृष्टिके व्यक्ति, जिनका पाश्चात्त्य संस्कृतिके ऊँचे-से-ऊँचे स्तरमें भी प्रवेश है, इसको बिना ननु-नचके स्वीकार करते हैं, तब यह निस्सन्देह परीक्षणीय तो अवश्य है ।

जो कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक कालके बुद्धिगर्वित लोगोंके लिये उपनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंकी सहज प्रसाद-गुणमयी वाणी उतनी अग्राह्य न होगी जितनी कि वेदोंकी स्तुतियाँ, जो उन देवताओंके प्रति उच्चरित हैं जिन्हें लोग भूल चुके हैं तथा पुराणोंकी कथाएँ, जो आधुनिक दृष्टिसे देखनेपर अविश्वसनीय सामग्रीसे भरी प्रतीत होती हैं । जिस तरहसे लोग यूनानके हिरैक्लीटस तथा प्लेटो आदि दार्शनिकोंकी रचनाओंको गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करते और समझनेकी चेष्टा करते हैं, उसी प्रकार चलनेपर केन, ईश, मुण्डक तथा दर्जनों अन्य उपनिषदोंकी शिक्षाएँ उनसे अधिक रहस्यमयी नहीं जान पड़ेंगी । और इस बातके मूल्यवान् प्रमाण हैं कि यथार्थ प्रयत्न करनेवालोंको ये ग्रन्थ ज्ञानके साम्राज्यमें उन यूनानी दार्शनिकोंसे कहीं आगे पहुँचा

देते हैं। पर जैसे वीणा या पिआनो बजाना कोई किताबसे नहीं सीख सकता वरं उसके लिये धैर्य और तत्परतापूर्वक अभ्यासकी आवश्यकता है, उसी प्रकार उपनिषदोंका सन्देश वाद-विवाद या बौद्धिक तर्क-वितर्कसे नहीं प्राप्त हो सकता, वरं विद्यार्थियों-के लिये जिस बहुमुखी साधन तथा अभ्यासकी उनमें आज्ञा दी गयी है और नियमबद्ध ध्यानका जो प्रकार बताया गया है, उसीसे काम चलेगा।

स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामदास, कृष्णमूर्ति, श्रीअरविन्दकी रचनाओं तथा श्रीरामकृष्ण परमहंस, भगवान् रमणमहर्षि, मा आनन्दमयी आदिके मौखिक उपदेशोंको धन्यवाद है। यूरोपकी विभिन्न भाषाओंमें इनका अनुवाद छप चुका है और अब थोड़े दिनोंसे अनेक पश्चिमवासी भी भारतीय ज्ञानकी महिमाको कुछ-कुछ समझने लगे हैं। रोमाँ रोलाके मार्गका अनुसरण करके तथा शताब्दियोंका व्यवधान पार करके इमर्सन, शोपेनहार, मैक्समूलर, डायसन आदि व्यापक-दृष्टिसम्पन्न विद्वानोंका हाथ पकड़कर तथा नाना क्षेत्रोंमें तत्तच्छास्त्रीय शोधोंसे लाभ उठाकर यूरोपके बहुत-से अग्रणी व्यक्ति और उनसे कुछ कम संख्यामें अमेरिकाके लोग अब यह सोचने लगे हैं कि संसारका उद्धार अर्थशास्त्र, पारमाणव शोध या साम्राज्य-विस्तार एवं उसके दोहनसे नहीं होगा, बल्कि मानवीय शक्तिके किसी गम्भीर या ऊँचे स्तरपर चढ़कर प्रयत्न करना होगा—शायद उन्हीं तत्त्वोंको प्राप्त करनेके लिये जो उपनिषदोंमें इसीलिये छिपे पड़े हैं कि हम उनके योग्य होकर उनको खोजें।

भक्तिके भेद

(लेखक—पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०, एम्० आर० ए० एस्०)

श्रीमद्भागवतमें प्रह्लाद-चरित्रके वर्णनके प्रसङ्गमें भक्तिके निम्नलिखित नौ भेद बतलाये गये हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(७।५।२३)

१—भगवान् विष्णुके नामका श्रवण, २—कीर्तन, ३—स्मरण, ४—चरण-सेवन, ५—पूजन, ६—नमस्कार, ७—दासता, ८—सखाभाव या मैत्री और ९—आत्म-समर्पण या शरणागति।

इन नवों ही भेदोंके उदाहरण बड़ी सुन्दरतासे निम्न श्लोकमें एकत्र कर दिये गये हैं—

श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे च सेवनविधौ लक्ष्मीः पृथुः पूजने।
अक्रूरस्त्वभिवादने च हनुमान् दास्ये च सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कैवल्यमेषां पदम्॥

१—भगवान् विष्णुके नामके श्रवणका उदाहरण राजा परीक्षित्, २—कीर्तनमें श्रीशुकदेवजी, ३—स्मरणमें प्रह्लाद, ४—सेवा करनेमें लक्ष्मीजी, ५—पूजन करनेमें राजा पृथु, ६—नमस्कार करनेमें अक्रूर, ७—दासभावमें हनुमान्जी, ८—सखाभावमें अर्जुन और ९—आत्म-समर्पणमें दैत्यराट् बलि हुए। इन सभीको भगवत्प्राप्ति हुई।

भक्तिमार्गके श्रेष्ठ आचार्य महर्षि शाण्डिल्य भक्तिके निम्नलिखित दस भेद बतलाते हैं—

१—सम्मान, २—बहुमान, ३—प्रीति, ४—विरह, ५—इतर-विचिकित्सा, ६—महिमख्याति, ७—तदर्थ-प्राणस्थान, ८—तदीयता, ९—सर्वतद्भाव, १०—अप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्॥ ४४॥

अर्थात् १. सम्मानभक्ति—भगवान्में सम्मान या आदरबुद्धि रखकर उनके साथ प्रीति करना। जैसे पाण्डवकुलतिलक अर्जुनने की।

२. बहुमानभक्ति—भगवान्के नामवाले किसी पुरुषका नाम लेने या सुनने, कोई बाहरका पदार्थ देखनेसे भक्तके हृदयमें भगवान्की भक्तिका प्रादुर्भाव होता है। जैसे भक्ताग्रगण्य प्रह्लाद अक्षर-विज्ञानके समय 'क' अक्षर देखकर ही कृष्ण-प्रेममें उलझ गये और उन्मत्त-से हो गये।

३. प्रीतिभक्ति—भगवान्‌में स्वाभाविक या जन्म-सिद्ध प्रेमका होना प्रीतिभक्ति है—जैसे विदुरजीका भगवान्‌में नैष्ठिक प्रेम था।

४. विरहभक्ति—भगवान्‌के वियोगके कारण भगवान्‌में भक्तिका प्राकट्य—जैसे व्रजगोपियोंकी विरह-भक्ति प्रसिद्ध है।

५. इतर-विचिकित्साभक्ति—अत्यन्त आग्रहपूर्वक दूसरोंकी अपेक्षा न रखकर केवल भगवान्‌की ही अपेक्षा करना—जैसे चित्रकेतु गन्धर्व, उपमन्यु आदिकी भक्ति।

६. महिमख्यातिभक्ति—भगवान्‌की महिमाका कीर्तन करना—जैसे नारदजी, वेदव्यासजी आदिने भगवान्‌के माहात्म्यका ही गान किया।

७. तदर्थ-प्राणस्थानभक्ति—भगवान्‌के लिये ही प्राण धारण करना, जैसे हनूमान्‌जीका जीवन केवल भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लिये ही था।

८. तदीयता-भक्ति—भगवान्‌के प्रति अकिञ्चन-दास-भाव रखना; जैसे दैत्येश्वर बलिकी भगवद्दासता, अम्बरीषका दास्य-भाव।

९. तद्भावभक्ति—भगवद्भाव रखकर रहना; जैसे नारदजीकी भगवद्भावके कारण भगवद्रूपता।

१०. अप्रातिकूल्य-भक्ति—भगवान्‌के कभी प्रतिकूल न होना और सब प्रकारसे सदा उनके अनुकूल रहना, जैसे वीरशिरोमणि भीष्मजी और धर्मावतार युधिष्ठिर सदा भगवान्‌के अनुकूल रहते और आचरण करते थे।

भक्तप्रवर देवर्षि नारदजीने भक्तिके निम्नलिखित ग्यारह भेद बतलाये हैं—

१—गुण-माहात्म्यासक्ति, २—रूपासक्ति, ३—पूजा-सक्ति, ४—स्मरणासक्ति, ५—दास्यासक्ति, ६—सख्या-सक्ति, ७—कान्तासक्ति, ८—वात्सल्यासक्ति, ९—आत्म-निवेदनासक्ति, १०—तन्मयतासक्ति ११—परमविरहा-सक्तिरेकधाप्येकादशधा, ॥ ८२ ॥

अर्थात् भगवान्‌की प्रेमरूपा भक्ति वास्तवमें एक प्रकारकी होकर भी निम्नलिखित ग्यारह अवान्तर प्रकारकी हो जाती है—

१. गुणमाहात्म्यासक्ति—भगवान्‌के गुणोंको सुनकर या जानकर भगवान्‌में प्रेम करना, जैसे नारदजी, व्यास-जी, राजा परीक्षित् आदिने किया था।

२. रूपासक्ति—भगवान्‌के अचिन्त्यानन्तसौन्दर्य-सुधासमुद्र भुवनसुन्दर अति मनोहर रूपको देखकर प्रेम करना; जैसे गोपियाँ, मिथिलाके नर-नारी, राजा जनक आदि करते थे।

३. पूजासक्ति—भगवान्‌की पूजामें प्रेम करना, जैसे लक्ष्मीजी, राजा पृथु, उद्धवजी आदिने किया था।

४. स्मरणासक्ति—भगवान्‌के नाम-स्मरणमें प्रेम करना, जैसे प्रह्लाद, ध्रुव, श्रीचैतन्य महाप्रभु, मीराबाई आदिके विषयमें प्रसिद्ध है।

५. दास्यासक्ति—भगवान्‌का दास होकर प्रेम करना, जैसे हनूमान्‌जी, विदुरजी, अक्रूरजी आदिने किया था।

६. सख्यासक्ति—भगवान्‌का सखा या मित्र होकर प्रेम करना, जैसे सुग्रीव, गुहराज, अर्जुन, सुदामा, श्रीदाम आदिके विषयमें प्रसिद्ध है।

७. कान्तासक्ति—भगवान्‌को अपना पति मानकर प्रेम करना, जैसे रुक्मिणी, राधा, गोपियाँ, पटरानियाँ आदि करती थीं।

८. वात्सल्यासक्ति—भगवान्‌के 'अपने भक्तोंपर कृपा करने' के गुणपर मोहित होकर प्रेम करना, जैसे श्रीदशरथजी, श्रीवसुदेवजी, श्रीनन्दरायजी आदि करते थे।

९. निवेदनासक्ति—भगवान्‌को अपना सर्वस्व समर्पण कर उनसे प्रेम करना, जैसे गोपाङ्गना, राजा बलि, विभीषण, अम्बरीष, हनूमान्‌जी आदि करते थे।

१०. तन्मयतासक्ति—भगवान्‌में तन्मय या एकरूप होकर प्रेम करना, जैसे देवाधिदेव महादेवजी, सनकादि,

शुकदेवजी आदि तथा प्रेमभावमें श्रीराधाजी, गोपीगणादि।

११. विरहासक्ति—भगवान्‌का वियोग असह्य मानकर प्रेम करना, जैसे गोपियों, उद्धवजी, पाण्डव आदिने किया था।

भक्तिके और भी अनेक भेद आचार्योंने बतलाये हैं—साधनभक्ति, साध्यभक्ति, ज्ञानकर्ममिश्रा भक्ति, रागानुगा भक्ति, रागात्मिका भक्ति, प्रेमा भक्ति आदि-आदि।

भगवान्‌की भक्तिकी प्राप्तिके लिये किसी भक्तने भगवान्‌से यह प्रार्थना की है कि—

नास्था धर्मे न वसुनिचये नैव कामोपभोगे
यद्भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्वकर्मानुरूपम्।
एतत् प्रार्थ्यं मम न बहुलं जन्म-जन्मान्तरेषु
त्वत्पादाम्भोरुहमुपगता निश्चला भक्तिरस्तु॥

इसका यह पद्यानुवाद है—

नहीं आस्था धर्ममें है, नहीं धनके पुञ्जमें।
नहीं इच्छा काममें है, नहीं योगनिकुञ्जमें॥
लिखा प्राक्तन कर्ममें जो, हो वही भगवन् यहाँ।
यही मेरी प्रार्थना है, जन्म मैं पाऊँ जहाँ॥
आपका गुणगान करके नाम-जप करता रहूँ।
चरण-रजका दास बनकर भक्तिरस पीता रहूँ॥

बावरी गोपी

(लेखक—प्रेमभिखारी)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

(१९)

मैं तो चली पियाकी डागरिया

प्राणवल्लभ !
बस, अब हो चुका,
मैं प्रतीक्षाकी चरम सीमापर आ गयी,
स्वभावतः अब लुढ़कना ही है।
आखिर तुम नहीं ही आये।
तो सब कुछ भूलकर मुझे ही आना पड़ेगा।
अभी तो छूटी हुई हूँ,
पता नहीं सासजी फिर कब बाँध दें।
मन कहता है—चल,
नेत्र कहते हैं—चल,
कान कहते हैं—चल,
हाथ-पैर कहते हैं—चल,
तब कैसे रुकूँ, मोहन !
कहीं तुम मेरी विवशताको समझ पाते।
मेरे आनेपर तुम क्रुद्ध तो न होगे ?
क्रुद्ध ही होगे तो मेरा क्या वश है।
अब बिना तुम्हें देखे चैन नहीं।
बरबस ही सही,
निर्लज्जतासे ही सही।
एक बार तो भर आँखों तुम्हें देख ही लूँगी,
पीछे चाहे तुम धक्के देकर निकलवा ही देना।
मेरी साध तो पूरी हो जायगी,
कसक तो मिट जायगी।
तुम्हारा वह तिरस्कार भी मुझे सुख देनेवाला होगा।
और कहीं तुमने प्रेमका निर्वाह किया तो ?
नेत्रोंमें अश्रु भरे हुए प्रेमपूर्वक मुझसे मिले तो ?
आह !
क्या बताऊँ,
किस आनन्दसे उपमा दूँ,
उसके समान आनन्द तो मेरी कल्पनामें भी नहीं आता।
मुझे देखते ही पहले आदरपूर्वक राजभवनमें भेजोगे,
फिर राजकार्य छोड़कर शीघ्र ही मुझसे मिलोगे,
मिलते ही क्षमा माँगोगे,

सजल नेत्रोंसे मेरी ओर ताकोगे ।
तुम्हारे इस व्यवहारपर मैं क्या करूँगी ?
तुम्हारे चरणोंमें गिरनेके लिये आगे बढ़ूँगी,
तुम झपटकर अपने बाहु-पाशमें बाँध लोगे ।
आह, उसकी कल्पना ही कितनी मधुर और सुखद है ।
चलो, तब सब ठीक है ।
मेरे दोनों हाथोंमें लड्डू है ।
तिरस्कार किया तो भी ठीक,
एक बार जी भरकर देखके साध मिटा लूँगी ।
प्रेमसे मिले तो भी ठीक ।
अब देर करना उचित नहीं,
चलना चाहिये ।
कहीं सासजी आ गयीं तो मन-की-मनमें ही रह जायगी ।
अभी शृङ्गार भी तो करना है ।
अपने कुँवर-कन्हैयाके पास क्या भद्देरूपमें जाऊँगी ?
यह चूनर ठीक नहीं,
उहुँ, यह भी अच्छी नहीं,
यह लहँगा तो बिल्कुल नहीं जँचता,
हाँ, यह मेरे प्यारेके पसंदकी वस्तु है ।
अरे, यह तो बहुत देर हुई जा रही है ।
अभी वेणी बाँधना, सेंदुर लगाना, काजल लगाना,
अङ्गराग आदि लेपना तो शेष ही है ।
ईश्वर करे सासजी किसीके घर अटक जायँ ।
ठहर, निगोड़े दर्पण !
बार-बार गिर क्यों पड़ता है ?
मेरे काममें बाधा देते तुझे लज्जा नहीं आती ?
मेरी समझमें तो अब कुछ कसर नहीं है ।
अरे हाँ, पैरोंमें महावर नहीं लगाया ।
संकोचके कारण कन्हैयाके नेत्र नीचे ही रहेंगे ।
मेरे पैरोंपर उनकी दृष्टि अवश्य ठहरेगी ।
इसलिये पैरोंको सूना रखना ठीक नहीं,
खूब चटक महावर लगाना चाहिये ।
हाँ, अब ठीक है ।
सासजी !
पतिदेव !
क्षमा करना,
मनमोहनके वियोगको सहन करनेकी शक्ति अब नहीं रह गयी ।
इसीसे आपलोगोंकी सेवा छोड़कर जा रही हूँ ।
मैं जानती हूँ कि आपलोगोंकी सेवा करना मेरा धर्म है,
आपकी सेवा छोड़कर जाना पाप है,
किंतु क्या करूँ ?
अपने वशकी बात नहीं है ।
पापका फल भोग लूँगी,
नरककी पीड़ा सह लूँगी,
किंतु अब चितचोरकी विरह-व्यथा नहीं सही जाती ।
भगवान्‌से मैं प्रार्थना करती हूँ कि अगले जन्ममें आपकी सेवा करनेका अवसर मुझे मिले ।
मेरी प्यारी धौरी !
प्यारे मुन्ना !
तुमलोगोंसे बिदा हो रही हूँ ।
क्या करूँ,
जब गोपाल ही तुमको छोड़ गया तो मैं कितना साथ दूँ ।
दुखी मत होना,
सासजी सेवा करेंगी ।
मैं वहाँसे कहला दूँगी कि मुन्नाके कंधेपर जल्दी हल न रक्खें ।
अच्छा चली ।
हे भगवान् !
दया करना ।
सासजी अभीतक तो नहीं मिलीं,

इसी प्रकार पूरा रास्ता कट जाय तो ठीक है ।
बीचमें कहीं आती हुई मिल गयीं तो सीधे घर ले जाकर बाँध देंगी ।
कैसे लोग हैं ?
मुझको देखकर हँसते हैं ।
ओह, यह मैंने क्या किया ?
कमरमें थोड़ी साड़ी लिपटी है,
शेष सब आँचलकी ओर लटक रही है ।
जल्दी-जल्दीमें ऐसा हो गया ।
चलो रहने दो; जो हो गया, सो ठीक है ।
हाय राम !
मेरे नेत्रोंसे यह लाल-लाल क्या निकल रहा है ?
अब याद आया ।
भूलसे नेत्रोंमें सेंदुर लगा गयी और माँगमें काजल भर लिया ।
भाई, जल्दीका काम ही ऐसा होता है ।
अब क्या हो सकता है।
जैसा है, वैसा ही रहेगा ।
वेष-भूषाके फेरमें पड़ जाऊँगी तो जाना कठिन हो जायगा ।
इसकी ओर ध्यान ही न देना चाहिये ।
अपने मनमोहनका स्मरण क्यों न करूँ ?
प्राणप्यारे !
देखो, मैं आ रही हूँ;
अपना सब कुछ छोड़कर आ रही हूँ ।
व्रजके लोग सबसे अधिक बावरी मुझको ही समझते थे,
किंतु मैं तो अपनेको सबसे सयानी समझती हूँ ।
तुम्हारे बिना रहना कैसा ?
ये कुंज जल जायँ,
लताएँ कुम्हला जायँ,
वृक्ष उखड़कर गिर पड़ें,
जमुना सूख जायँ,
तुम्हारे न रहनेपर इन सबका मूल्य ही क्या ?
इनका उपयोग ही क्या ?
वृन्दावनसे तो निकल आयी ।
अब उतना डर नहीं है ।
अहा ! आज आनन्द-ही-आनन्द है ।
गाते हुए चलनेसे मार्ग जल्दी कटेगा ।

(गाती है)

मैं तो चली पियाकी डागरिया ।
डागरिया हाँ डागरिया,
मैं तो चली पियाकी डागरिया ॥
जहाँ हमारो कान्ह बसत है,
वही हमारी नागरिया ।
मैं तो चली पियाकी डागरिया ॥
रात-दिना अपने प्यारेकी,
करूँगी मैं तो चाकरिया ।
मैं तो चली पियाकी डागरिया ॥

(प्रेम तथा आनन्दके कारण नेत्र बंद हो जाते हैं, पैर भी ठीक नहीं पड़ते, फिर भी गाती हुई आगे बढ़ी जा रही है ।)

जाय निहारूँगी वा छबिको,
भले कहो सब बावरिया ।
मैं तो चली पियाकी डागरिया ॥

(इसके आनेके कुछ ही समय बाद सास घर पहुँची थी । किसीने इसके जानेका समाचार कह दिया। सास यह समझकर कि मथुराकी ओर ही गयी होगी इसके पीछे दौड़ी । कुछ दूर चलनेपर इसको देख भी लिया । सास पुकारती हुई पीछे-पीछे आ रही थी; किंतु इसे सासका शब्द नहीं सुनायी पड़ता था, अपनी धुनमें गाती हुई चली जा रही थी ।)

आज कहूँगी वा छलियासे,
याद करो ना गागरिया ।
मैं तो चली पियाकी डागरिया ॥

(नेत्र बंद होनेके कारण मार्गसे अलग हो जाती है, सामने एक वृक्ष आ जाता है ।)

छोड़ न सकती, मैं हूँ तुम्हारी

तुम हो हमारे साँ······(पेड़से सिर टकरा जाता है) आह !

वरिया ।

(सिरमें ठोकर लगनेसे शिथिलता बढ़ जाती है । पेड़के तनेको दोनों बाहुओंसे पकड़कर चुपचाप खड़ी हो जाती है । इसी समय सास पहुँच जाती है और बड़े स्नेहसे उसकी बाहोंको छुड़ाकर अपने कंधेका सहारा देकर घरकी ओर धीरे-धीरे ले जाती है । इसके नेत्र बंद हैं, प्रेम-विह्वल है, उसे सुधि नहीं कि कौन कहाँ लिये जा रहा है । वह समझती है कि मैं मथुरा जा रही हूँ, अतः रुक-रुककर उसके हृदयके अन्तरतमसे अब भी ये शब्द निकल रहे हैं)

मैं तो······

चली·······

पियाकी·······

डागरिया ।

(घर ले जाकर सास पलँगपर लिटा देती है, गोपी बेसुध ही रहती है ।)

एक नहीं, या बिधि सबै, ह्वहरि मरीं ब्रज-बाल ।
गोपीवल्लभ नाँव तुव व्यर्थ परयो, गोपाल ॥

आत्मदान

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

यदि तुम कहीं दुःखी हो, दलित हो, भूले हो, बद्ध, व्यथित, दरिद्र और पीड़ित हो तो निस्सन्देह तुम अपने ही किसी पाप या दोषके दुर्भाव और दुर्विकारके कारण हो । अज्ञान-अन्धकारमें अपने-आपको, जैसे कुछ हो, छिपाते रहते हो; जैसे नहीं हो वैसे दिखाते रहते हो । अभीतक यदि तुम इस सत्यको नहीं जानते तो अब समझ लो कि तुम जैसे भी पापी या पुण्यवान्, मूर्ख या विद्वान्, दोषी या गुणवान्, बद्ध या मुक्त हो, वैसे ही अपने शरीरकी क्रियाओं, मनके भावों और विचारोंमें स्पष्ट होते रहते हो । तुम्हारे सुखों-दुःखोंके पीछे पाप या पुण्यकर्मोंका अनुभव होता है । प्रत्येक कर्मके पीछे दुर्भाव या शुद्ध भाव रहता है । भावोंके पीछे कुविचार या सुविचार दीख पड़ता है । विचारोंके पीछे कुसंग या सुसंगकी प्रेरणा प्रतीत होती है । संगके अनुसार ही सत्य या असत्यकी जानकारी होती है और ज्ञानके अनुरूप ही दुर्गति अथवा सद्गति मिलती है ।

यदि तुम दुःखोंसे बचना चाहते हो तो पापकर्म न करो; कहीं भी दोष न रहने दो । पापोंका प्रेरक दुर्भाव है तथा दोष अविवेकके कारण बनते रहते हैं, इसलिये दुर्भावको मनमें स्थान न दो, विवेकी बनो । दुर्भावका सहायक कुविचार है, इसलिये कुविचारोंको बुद्धिमें आते ही हटा दो । कुविचारोंका पोषक कुसंग है, कुसंगका निवारक सत्संग है; इसलिये संतों, विरक्तों और ज्ञानी पुरुषोंके संगी बनो । सत्संगसे ही प्रत्येक जीवका अभ्युत्थान होता आ रहा है ।

यदि तुम सुख चाहते हो तो दूसरोंकी यथाशक्ति विचारपूर्वक सेवा करो । पुण्यवान् और सद्गुणसम्पन्न बनो, शारीरिक और मानसिक दुःखोंकी मूलभूमि दोष हैं और सुखोंका अधिष्ठान पुण्य है । यदि तुम शक्ति चाहते हो तो दूसरोंकी सेवा करते हुए तपस्वी बनो, तपसे दुर्बलता दूर होती है तथा शक्ति मिलती है । यदि तुम सुख-दुःखके बन्धनसे थककर शान्ति चाहते हो तो जो कुछ—'अहम्' के साथ मेरा स्वीकार कर रक्खा है, उसका त्याग करो । यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो जो कुछ संसारमें बद्ध है, उसका आश्रय न लेकर

ज्ञानी पुरुषोंके सत्संगसे ज्ञान प्राप्त करो। यदि तुम भक्ति चाहते हो तो श्रीभगवान्‌को ही अपना जानकर उन्हींके अभिमानी बनो।

अपने जीवनमें जहाँतक तुम भोगजनित सुखोंकी तृष्णाको तृप्त करनेके लिये अनावश्यक और नीच विचारोंके अधीन होकर समय और शक्तिका दुरुपयोग करते हो, वहाँतक मूर्खता, अदूरदर्शिता और अयोग्यताका ही परिचय देते हो; इसके विपरीत जब तुम कभी न तृप्त होनेवाली तृष्णाका त्याग करते हो और विचारोंको स्ववश रखते हुए परार्थी और परमार्थी बनते हो, तब अपनी बुद्धिमत्ता, योग्यता और दूरदर्शिताका परिचय देते हो।

जहाँतक तुममें आहारमें अति आसक्ति, भोगकामनाओंकी प्रबलता, अमर्यादित निद्रा तथा अपनी ही शरीररक्षाका पक्ष और केवल बद्ध दशामें ही यन्त्रवत् कार्य करते रहनेकी आदत है, वहाँतक तुम अपनेमें पशुप्रकृतिकी प्रधानता समझो। जहाँतक तुम अपनी ही शक्तिकी वृद्धि चाहते हो और प्राप्त शक्तिका अपनी ही तृप्तिके लिये सुखोपभोगमें दुरुपयोग करते हो, साथ ही सुखद पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये दूसरे प्राणियोंके प्रति निर्दयता, क्रूरता, कठोरतापूर्वक हिंसात्मक व्यवहार करते हो, वहाँतक तुम अपनेमें आसुरी प्रकृतिको ही प्रबल समझो। जब तुम भोजन, निद्रा और सुखोपभोगमें समुचित मर्यादाका पालन करते हो, अपने सर्वाङ्गोंपर संयम रखते हो, शक्तिका कहीं भी दुरुपयोग नहीं होने देते, सद्भावपूर्वक शुभ कर्म करते हुए सद्‌गुणोंको बढ़ाते हो और जीवनमें दिव्यताको प्राप्त करना तुम्हारा लक्ष्य होता है, तब तुम अपनेमें मानवी प्रकृतिको जाग्रत् समझो। जब तुम संयमित शक्तिको अपनी अहङ्कृत रुचिपूर्तिमें व्यय न कर दूसरोंकी सेवाओंमें सदुपयोग करते हो, भोगाभ्यासके स्थानपर योगाभ्यास करते रहते हो, क्रोधके बदले दया और क्षमा, कृपणताके स्थानमें उदारता, लोभके बदले दानशीलता, कामनाके स्थानमें निष्कपटता, मोहके स्थानमें गम्भीर विवेक और द्वेषके स्थानमें प्रेमपूर्वक व्यवहारसे काम लेते हो, तुम्हारा अभ्युदय निःश्रेयसमें परिणत होने लगता है, प्रपञ्चसे उदासीनता एवं सांसारिक सुखों, वस्तुओं और व्यक्तियोंसे विरक्तिका भाव प्रबल होता है और वह तुम्हें परम शान्तिका दान करता है, तभी तुममें दैवी प्रकृतिकी प्रधानता कही जा सकती है।

तुममें जहाँ कहीं कायरता, दुर्बलता, प्रभावशून्यता और दूसरोंके प्रति घृणा, विश्वासघात, छल तथा कपट आदि दोष दीख पड़ते हैं, वहीं तुम अपनी चरित्रहीनताका परिचय देते हो। जहाँ कहीं वीरता, दृढ़ता, प्रभावशालिता, सत्यता, सरलता, विनम्रता, जितेन्द्रियता तथा परोपकार आदिकी क्रियाएँ दीखती हैं, वहीं तुम सच्चरित्रवान् सिद्ध होते हो। जब तुम्हारे मनमें नवीन भोग-विलासोंकी इच्छा प्रबल होती है और तुम उसकी पूर्तिका प्रयत्न करते हो, तब तुम दुःखके पथपर उतरते हुए दरिद्रताका वरण करते हो। जब भोग-इच्छाओंको रोककर और सन्तोष धारणकर दूसरोंकी सेवाके लिये शक्ति और अपने लिये शान्तिकी आकाङ्क्षा करते हो, तब तुम अपनी प्रकृतिमें उदारताका परिचय देते हो।

यदि तुम धनी होकर दानी नहीं, निर्धन होते हुए भी तपस्वी नहीं, विद्वान् होकर विनम्र नहीं, अशिक्षित होकर मितभाषी नहीं, बलवान् होकर परिश्रमी नहीं, निर्बल होकर विनयी नहीं, सुखी एवं सम्पन्न होकर सेवापरायण नहीं, दुखी होकर दोषोंके त्यागी नहीं, वयोवृद्ध होकर संसारसे विरक्त नहीं तथा मानव होकर भगवान्‌के भक्त नहीं हो, तब निस्सन्देह तुम अपने दुर्भाग्यको ही परिपुष्ट कर रहे हो।

जब तुम प्रिय सम्बन्धियोंका वियोग होनेपर अनुद्विग्न रह सको, तभी तुम मोहजित् हो। जब अपने पास

सञ्चित धन आदि वस्तुओंकी हानिमें भी चिन्तित और व्यथित न हो सको, तभी लोभजित् हो। जब अपनी हानि पहुँचानेवालेके प्रति, अपना विरोध और अनादर करनेवालेके प्रति भी अनुत्तेजित रहकर उससे प्यार करते रहो, तभी क्रोधजित् हो। जब रूप, रस, शब्द, स्पर्श आदि सुखद विषयोंका संयोग होनेपर भी मनको असमर्पित रखकर किसीकी भी इच्छा नहीं करते हो, तभी तुम कामजित् हो। जब तुम संसारकी किसी सुखद या दुःखद वेदनासे विचलित न होकर स्वस्वरूपमें स्थित रहोगे, तब समदर्शी या तत्त्वदर्शी होगे। जब तुम प्राणिमात्रके प्रति प्यारका परिचय देते हुए अहिंसा-व्रत-पालनका स्वभाव बना लोगे और किसी भी वस्तुके आने तथा जानेमें संयोग-वियोगका अनुभव न करोगे, तभी तुम नित्य योगी बन सकोगे।

श्रीरामनामामृतम्

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम॥

जो लोग सर्वदा भगवद्यशसुधा एवं भगवन्नामामृतका पान करते रहनेसे कृतार्थस्वरूप हैं, उनके लिये कुछ कहना आवश्यक न होनेपर भी अपनी लेखनीको पवित्र करनेके लिये मैं भगवन्नामके सम्बन्धमें कुछ लिख रहा हूँ। प्रत्येक बुद्धिमान् इस उद्देश्यसे भगवद्-यशका गान करता ही है—

'बुध बरनहिं हरि जस अस जानी।
करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥'
'निज गिरा पावनि करन कारन राम जस तुलसी कह्यो।'
'पर-अपबाद बिबाद बिदूषित बानिहि।
पावन करौं सुगाइ भवेस भवानिहि॥'

पर आज लोग बुद्धि खो चुके हैं, इसलिये सर्वत्र ही 'सर्वार्थान् विपरीतांश्च'का बोध हो रहा है। आज बहुत कम लोगोंकी शास्त्रोंपर आस्था दिखायी देती है। आज सभी विदेशी नीतिकी नकल करनेमें लगे हैं। अब यहाँ वही सर्वाधिक बुद्धिमान् समझा जाता है, जो सर्वाधिक तन-मनसे विदेशी बन चुका हो। गीतापर इसीलिये कुछ श्रद्धा है कि उसकी आज विदेशोंमें भी बड़ी पूछ है; पर उसमें क्या लिखा है, इसपर कोई भी गहराईसे विचार नहीं करते। गीताकारने सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इन तीन प्रकारकी बुद्धियोंकी चर्चा की है। आज तो सर्वदा विषय-सुखोंके ही चिन्तनमें निमग्न रहनेके कारण 'ध्यायतो विषयान् पुंसः' से चलकर 'स्मृतिभ्रंश और बुद्धिनाश'की दयनीय दशा सामने आ गयी है, और व्यापक बुद्धिनाशका परिणाम व्यापक विनाश भी परमाणु-बम, गृह-कलह तथा कम्यूनिस्ट-उपद्रवोंका रूप धारणकर तैयार हो गया है। अभी भी यदि सात्त्विक बुद्धिका स्मरण किया जाय तो बहुत कुछ काम बन सकता है; पर प्रश्न तो यह है कि सात्त्विक बुद्धिकी प्राप्ति क्या कोई हँसी-खेल है? नारदपुराणका कहना है कि 'सारे पापोंके नष्ट हो जानेपर मनुष्यकी बुद्धि निर्मल होती है—

सर्वपापेषु नष्टेषु बुद्धिर्भवति निर्मला।
(पू० भा० ३३, ३०)

पर आज हम आँखें मूँदकर पाप करते जा रहे हैं। फिर कैसे आशा रक्खी जाय कि हमारी बुद्धि स्वच्छ होगी। फिर जबतक बुद्धि स्वच्छ नहीं होती तबतक हमें यथार्थ दृष्टि कैसे मिल सकती है।

प्रत्येक बुद्धिमान् भगवद्यशका गान करता ही है। इस उक्तिके 'बुद्धिमान्' शब्दको लेकर बात यहाँतक बढ़ आयी। अस्तु, हमें देखना है कि हमारा परम कल्याण किसमें है। आजके बुद्धिमान् कहे जानेवाले लोग एक

ही वाक्यमें शास्त्रोंका प्रामाण्य समाप्त कर देते हैं—वह यह कि शास्त्रोंमें परस्पर-विरोधिनी बातें हैं और 'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः' इस महाभारतके श्लोकसे अपने मतका समर्थन भी कर डालते हैं। ऐसा कहनेवालोंको 'पूर्वमीमांसा' तथा 'न्यायदर्शन'के 'अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्' आदि सूत्रोंकी व्याख्या समझनी चाहिये। सच्ची बात तो यह है कि 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' श्लोकको शास्त्रोंमें विरोध दिखलानेवाला समझना भी बुद्धिभ्रान्तिका ही परिणाम है। असलमें तो इस श्लोकका तात्पर्य शास्त्रोंके समन्वयमें है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' में स्पष्ट ही अपने कुलमार्गके अनुसरणकी बात कही गयी है। अस्तु,

अन्य बातोंमें भले ही इन श्रुतियों, स्मृतियों तथा मुनियोंके मतमें स्वल्प भेद रहा हो, पर भगवत्स्मरणमें तो इन सभीका एक ही डिण्डिम-घोष है। गोस्वामीजीने 'तर्कोऽप्रतिष्ठः' श्लोकका स्मरण करते हुए इसको बड़े सुन्दर शब्दोंमें लिखा है। रामायणका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं—

सिव अज सुक सनकादिक नारद।
जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥
सब कर मत खगनायक एहा।
करिअ राम पद पंकज नेहा॥
श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं।
रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥

कितने स्पष्ट शब्द हैं। उपर्युक्त शङ्काका यह कैसा सुन्दर समाधान है! भगवत्स्मरण-भगवत्सपर्याका महत्त्व बतलाते हुए गोस्वामीजी आगे डंकेकी चोट कहते हैं—

कमठ पीठ जामहिं बरु बारा।
बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥
फूलहिं नभ बरु बहुबिधि फूला।
जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना।
बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै।
रामबिमुख न जीव सुख पावै॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई।
बिमुख राम सुख पाव न कोई॥
बारि मथें घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥

रामनाम सर्वोपरि सुधा है

आज किसी भी बातको जबतक तर्कदृष्टिसे नहीं समझाया जाता, समझमें नहीं आती—सिर चक्कर देकर फूट भले ही जाय। संसारकी विचित्रताओंपर ध्यान देनेसे प्रभुकी कृपा स्पष्ट ही झलकती है, पर मायाका प्रबल चक्र हमें देखते रहनेपर भी देखने नहीं देता। मणि, माणिक, वज्र, पन्ना, मोती और पद्मराग तथा इन्द्रनील मणि आदि रत्न कितने अधिक मूल्यमें बिकते हैं; पर ये कितने कामकी चीजें हैं। इनके बिना अबतक जीवनयापनमें किसे कठिनाई हुई? अन्न-वस्त्र हमारी अधिक जरूरतकी चीजें हैं; यदि इनकी वैसी कीमत होती तो हम कबतक जीवन धारण करते। पर ये चीजें भी जलकी अपेक्षा कम ही आवश्यक हैं। जलकी हमें पग-पगपर आवश्यकता पड़ती है, पर कृपाकन्द मुकुन्दने उसे निर्मूल्य दिया। आगे बढ़िये—वायुको देखिये। इसके लिये हमें यदि जल-जितना भी प्रयत्न करना पड़ता तो हमारे प्राण कभीके चले गये होते, उसके लिये प्रभुने कैसी सहज व्यवस्था की। इसे देखकर भी जो प्रभुके प्रति कृतज्ञ नहीं हो, उसके लिये क्या कहा जाय। कृतघ्नके लिये कहा गया है—

अल्पमप्युपकारं यो न स्मरेत्केनचित्कृतम्।
कृतघ्नः स तु लोकेऽस्मिन् ब्रह्मघ्नादपि पापकृत्॥

किंतु ऐसा करनेवाले तो संसारके सबसे बड़े कृतघ्न हैं। इसी तरह वायुसे भी अधिक मूल्यवान् एवं कामकी आवश्यक चीज परम अमृत साक्षात् सुधाको भगवान्ने कृपाकर हमारे सामने उँडेल दिया है। वह है—भगवन्नामामृत—भगवच्चरितामृत। पर हम इस कृपाकी कद्र नहीं करते—

सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहिं भट भेरे॥

हम जान-बूझकर प्रमादवश अपना सुअवसर खो रहे हैं। देवताओंके अमृतके लिये हमलोग उत्सुक रहते हैं, पर वे सोमपायी पुण्यक्षीण होते ही मृत्युलोकको ढकेल दिये जाते हैं। उनका अमृतपान व्यर्थ हो जाता है, पर नामामृतके पान करनेवालेकी स्वप्नमें भी मृत्यु नहीं होती—

सततं श्रीहरेर्नाम भारते यो जपेन्नरः।
स एव चिरजीवी च ततो मृत्युः पलायते॥
(ब्रह्मवैवर्त० प्रकृति० २७। २१; देवी० ९। ३०। २१)

राम रामेति ये नित्यं जपन्ति मनुजा भुवि।
तेषां मृत्युभयादीनि न भवन्ति कदाचन॥
(अध्यात्म० २। ५। २६)

'नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगल रासी॥
सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥
नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह असी को॥'

'भाई धारि फिरि कै, गोहारि हितकारी होति,
आई मीचु मिटति जपत रामनाम को।'
(कवितावली उत्तर०)

सून्य मरै अजपा मरै, अनहद हू मरि जाय।
नाम सनेही ना मरै, कह कबीर समुझाय॥

—आदि कितने ही प्रमाण, उदाहरण इसके भरे पड़े हैं। पर हम इतने अभागे हैं कि इधर ध्यान ही नहीं देते। इससे बढ़कर अब अधिक मोह क्या होगा। यह दशा अत्यन्त स्पष्ट होते हुए भी भगवत्कृपासे वञ्चित जन इसे नहीं समझ पाते—

मनि मानिक महँगे किए, सहँगे तृन जल नाज।
तुलसी एते जानिऐ, राम गरीबनेवाज॥

आजके प्रज्ञाभिमानी, पण्डितम्मन्य, मायामुग्ध जन हेत्वाभास तथा अनेक प्रकारके छल-छद्मोंद्वारा ईश्वरास्तित्वको खण्डन करनेका बाल-प्रयास करते हैं। यह उनका महामोह तथा बुद्धि-कालुष्यका जीता-जागता परिणाम है। हम पहले कह चुके हैं कि निर्मल सात्त्विक बुद्धि ही भगवत्तत्त्वको धारण कर सकती है। जिस तरह कच्चे घटमें जल नहीं रह सकता, ठीक उसी तरह अनधिकारीके हृदयमें ज्ञान नहीं ठहर सकता। मद-मोहादिके रहते यथार्थ ज्ञान कहाँ। श्रीहनुमान्‌जीने रावणसे कहा था—

राम नाम बिनु गिरा न सोहा।
देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥

यही बात गोस्वामीजीने रामायण-वन्दनामें कही है—

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बर नारी॥
सब गुन रहित कुकबि कृत बानी।
राम नाम जस अंकित जानी॥
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही।
मधुकर सरिस संत गुनग्राही॥

ठीक ये ही बातें भागवतके प्रथम स्कन्धके पाँचवें अध्यायमें तथा १२ वें स्कन्धके १२ वें अध्यायमें आती हैं। 'नानापुराणनिगमागमसम्मत'के रूपमें गोस्वामीजीने यहाँ—

न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो
जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्।
तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा
न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥
तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो
यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि य-
च्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥
(श्रीमद्भा० १। ५। १०-११)

—इत्यादि श्लोकोंका अनुवाद ही कर दिया है। श्रीचैतन्यदेव तो विद्यारूपी स्त्रीका पति भगवन्नामको ही कहते हैं—'विद्यावधूजीवनम्।' 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' इस उपनिषद्वचन तथा—

आधारः सर्वविद्यानां स्वयमेव हरिः स्थितः।

—इस विष्णुपुराणके वचनको देखते हुए इसमें कुछ विचित्रता भी नहीं। इस तरह यह स्पष्ट है कि जिसकी विद्या भक्तिविहीन है, वह इन तत्त्वदर्शियोंकी दृष्टिमें विधवा है—

वन्ध्यां गिरां तां बिभृयान्न धीरः।

भगवन्नामके माहात्म्यका यथार्थ वर्णन तो स्वयं भगवान् भी नहीं कर सकते—'राम न सकहिं नाम गुन गाई।' फिर भी संक्षेपमें ऐसा कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं कि सबसे बड़ा भाग्यवान् नामजापक ही है—

रामनाम-गति, रामनाम-मति, राम-नाम-अनुरागी।
ह्वै गये, हैं, जे होहिंगे, तेइ त्रिभुवन गनियत बड़भागी॥

सर्वप्रथम पूज्य देव श्रीगणेशजी रामनामकी ही कृपासे हुए—

महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥

आदिकवि, अतुल्य विद्वान् रामनामके प्रसादसे ही हुए—

जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

पतिव्रताशिरोमणि भगवती जगज्जननी पार्वती भी इसी नामको जपती हैं—

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को॥

और भगवान् शङ्कर तो—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥

—प्रसिद्ध ही है। अगस्त्यजीने इसीके प्रतापसे समुद्र-शोषण किया—

कलसयोनि जिय जानेउ नाम प्रतापू।
कौतुक सागर सोखते हियँ करि दापू॥

ध्रुव-प्रह्लाद भी इसीके आराधक रहे—

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
ध्रुवँ सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥

स्पष्ट बात तो यह है कि जिसने भी नामकी ओट ली, उसीने अभीष्टको पा लिया।

ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहिं नहिं पाई॥

इन्हीं सब कारणोंसे भावुकोंने वेदोंकी सम्पूर्ण विधि-निषेधात्मक आज्ञाओंको दो ही वाक्योंमें समाप्त किया—

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न कर्हिचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥

राम सुमिरत सब बिधि ही को राज रे।
राम को बिसारिबो निषेध-सिरताज रे॥

और आजके युगके लिये तो इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय ही नहीं—

एक ही साधन सब रिद्धि-सिद्धि साधि रे।
ग्रसे कलि-रोग जोग-संजम-समाधि रे॥

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥

बस, गजेन्द्रकी नाईं हमने जहाँ अपने बुद्धिबल तथा विद्याके चातुर्यको छोड़कर भगवान्‌को स्मरण किया कि फिर भगवान् तो सामने हैं ही—

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥

राम-भजन

मूढ़ मन कहो रामसीता।
जो जपता हरिनाम प्रेमसे सो जगमें जीता॥ मूढ़०॥
तप-व्रत-योग कठिन कलियुगमें रहे सदा रीता।
जगमें सभी स्वार्थके संगी एक राम मीता॥ मूढ़०॥
नामामृत अति मधुर सुधा-से क्यों न सतत पीता।
कँवलबास नित भजन करो अब जीवन सब बीता॥ मूढ़०॥

—महात्मा जयगौरीशंकर सीताराम

भगवान्‌के शीघ्र मिलनमें भाव ही प्रधान साधन है

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

संसारमें क्रियाकी अपेक्षा भाव ही प्रधान है। छोटी-से-छोटी क्रिया भी भावकी प्रधानतासे मुक्तितक दे सकती है और उत्तम-से-उत्तम क्रिया भी निम्नश्रेणीका भाव होनेपर नरकमें ले जाती है। जैसे कोई मनुष्य जप, तप, ध्यान, स्तुति, प्रार्थना, पूजा, पाठ, यज्ञ और अनुष्ठान आदि दूसरोंके अनिष्ट या विनाशके लिये करता है तो उसके फलस्वरूप कर्ताको नरककी प्राप्ति होती है। अनुष्ठान आदि क्रिया तो बहुत ही उत्तम है; किंतु भाव तामसी होनेके कारण कर्ताकी अधोगति होती है। भगवान् कहते हैं—

जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

(गीता १४। १८)

'तमोगुणके कार्यरूप निद्रा, प्रमाद और आलस्यादिमें स्थित तामस पुरुष अधोगतिको अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियोंको तथा नरकोंको प्राप्त होते हैं।' और यही उत्तम क्रिया स्त्री, धन, पुत्र आदिकी प्राप्तिके लिये अथवा रोगनिवृत्तिके लिये की जाय तो राजसी भाव होनेके कारण उससे मध्यम गति प्राप्त होती है। सारांश यह कि जिस-जिस भावनासे क्रिया की जाती है, उस-उसकी ही प्राप्ति होती है। उपर्युक्त उत्तम क्रिया ही जब कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे भगवदर्थ की जाती है, तब उसका फल अन्तःकरणकी शुद्धि होकर भगवान्‌की प्राप्ति होती है। इस प्रकार एक ही क्रिया भावके कारण उत्तम, मध्यम और अधम फल देनेवाली होती है। एक निम्नश्रेणीकी क्रिया है; किंतु भाव यदि उच्चकोटिका है तो वह भी मुक्ति प्रदान करनेवाली हो जाती है। जैसे माता-पिता, गुरुजनोंके रूपमें बच्चोंका शासन करना, डाक्टरके रूपमें चीर-फाड़ करना, सड़क आदिकी सफाई करना, जलानेके लिये लकड़ियोंका बोझ ढोना, वस्तुओंका न्याययुक्त क्रय-विक्रय करना, भृत्य तथा सेवाका काम करना—यहाँतक कि गंदगी मिटानेके लिये टट्टी-पेशाब साफ करना—इत्यादि जो निम्नश्रेणीकी क्रियाएँ हैं, ये सब भी कर्तव्य समझकर निष्काम प्रेमभावसे की जायँ तो उसके फलस्वरूप अन्तःकरणकी शुद्धि होकर परमात्माकी प्राप्तितक हो सकती है। और यही क्रियाएँ सकामभावसे की जायँ तो इनसे अर्थकी सिद्धि होती है।

कहा जाता है, भीलनी शबरी मार्गपर झाड़ू लगाया करती तथा कूड़ा-कर्कट, काँटे आदि साफ किया करती एवं जंगलसे लकड़ियाँ इकट्ठी करके ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंके पास रख दिया करती थी। यह देखनेमें नीची श्रेणीका काम दीख पड़ता है; किंतु वह निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर करती थी। इसलिये उसका भाव उत्तम होनेसे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे भगवत्प्राप्ति हो गयी।

पद्मपुराणमें कथा आती है—जब नरोत्तम ब्राह्मण तुलाधार वैश्यके यहाँ गया, उस समय तुलाधार ग्राहकोंको माल बेचनेमें लगा था। इस कारण उसने कहा कि 'अभी मुझे अवकाश नहीं है। ग्राहकोंकी यह भीड़ एक पहर रात्रि बीतनेतक रहेगी, उसके बाद ही मुझे अवकाश मिल सकता है। यदि आप इतनी देर न रुक सकें तो आप सज्जन अद्रोहकके पास जाइये; आपके द्वारा जो बगुला मर गया और आपकी धोती आकाशमें सूखनी बंद हो गयी, इस सबका रहस्य आपको आगे मालूम हो जायगा।' भगवान्‌ने, जो कि ब्राह्मणके रूपमें नरोत्तमके साथ-साथ चल रहे थे, कहा—'चलो, हम सज्जन अद्रोहकके पास चलें।' यों कह वे वहाँसे सज्जन अद्रोहकके पास जाने लगे; तब रास्तेमें नरोत्तमने उनसे पूछा कि 'तुलाधारने मेरे द्वारा बगुलेके भस्म होनेकी बात कैसे जानी?' भगवान्‌ने बतलाया कि यह क्रय-विक्रयमें सबके साथ सत्य तथा सम व्यवहार करता है, इसीसे इसे तीनों कालोंका ज्ञान है। इसी कारण उस तुलाधारके घरमें भगवान् ब्राह्मणके रूपमें निवास करते थे और अन्तमें वह तुलाधार वैश्य विमानमें बैठकर परम धाममें चला गया।

यहाँ विचारना यह है कि तुलाधार वैश्यकी क्रय-विक्रयरूप क्रिया तो देखनेमें निम्नश्रेणीकी है; परंतु स्वार्थत्याग, सचाई, ईमानदारी और समताके व्यवहारके कारण वही क्रिया इतनी उच्च हो गयी कि उसे परमपद प्राप्त करानेवाली सिद्ध हुई।

इससे यही बात सिद्ध होती है कि भाव ही प्रधान है, क्रिया नहीं। इसलिये हमें उचित है कि हम जब कभी कोई क्रिया करें, उसे उत्तम-से-उत्तम भावसे करें।

जब नीची-से-नीची क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम गति प्राप्त करा सकती है, तब फिर जहाँ क्रिया भी उत्तम-से-उत्तम हो और भाव भी उत्तम-से-उत्तम हो, वहाँ तो कहना ही क्या है!

इसी भावको समझनेके लिये निम्नलिखित एक कहानी है—

भगवान्‌का एक भक्त साधक था । वह एक पीपलके वृक्षके नीचे रहकर भजन-ध्यान, गीता-पाठ, साधु-सेवा, तप और उपवास आदि किया करता था । एक समय वहाँ देवर्षि नारदजी पधारे । साधकने उनकी बहुत सेवा-शुश्रूषा की । तदनन्तर जब नारदजी जाने लगे, तब उसने नारदजीसे पूछा 'भगवन् ! आप कहाँ जा रहे हैं ?' नारदजीने बतलाया 'मैं भगवान्‌के पास वैकुण्ठमें जा रहा हूँ ।' उसने नारदजीके चरणोंमें सिर नवाया और हाथ जोड़कर उत्सुकतापूर्वक दीनभावसे प्रार्थना की कि 'क्या आप मेरे लिये भी भगवान्‌से यह पूछ लेंगे कि मुझे उनके दर्शन कब होंगे ?' नारदजीने कहा—'क्यों नहीं, जरूर पूछकर तुझे उत्तर दूँगा ।' इतना कह नारदजी वहाँसे चल दिये और बड़े प्रेमसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए वैकुण्ठधाम पहुँचे ।

भगवान्‌ने पूछा—'नारद ! तुम कहाँसे आ रहे हो ?' नारदजीने कहा—'एक वृक्षके नीचे आपका एक भक्त आपके भजन-ध्यान और तपस्यामें संलग्न है, अभी मैं वहींसे आ रहा हूँ । भगवन् ! उसकी सेवा-पूजा, भजन-ध्यान और तपस्या प्रशंसाके योग्य है । प्रभो ! उसने मेरे द्वारा आपसे यह पुछवाया है कि उसे भगवान्‌के दर्शन कब होंगे ।' भगवान् बोले—'नारद ! यह बात तुम मत पूछो ।' नारदजीकी उत्सुकता और बढ़ी । उन्होंने कहा—'क्यों नहीं, भगवन् ?' भगवान्‌ने उत्तर दिया—'नारद ! वह जिस प्रकार भजन-ध्यान, सेवा-शुश्रूषा और तपस्या कर रहा है, उस प्रकार करते रहनेपर तो उसे मेरे दर्शन होनेमें बहुत विलम्ब होगा । इस प्रकार साधन करनेपर तो उसे उस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंमें मेरे दर्शन होंगे ।' भगवान्‌की यह बात सुनकर नारदजी सहम गये; उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे बोले—'भगवन् ! वह तो बहुत ही तीव्रतासे सेवा-शुश्रूषा, जप-ध्यान, तपस्या आदि कर रहा है; फिर उसके लिये इतना विलम्ब क्यों ?' भगवान्‌ने कहा—'नारद ! तुम इसका रहस्य नहीं समझते; मैं जो कुछ कहता हूँ, वही उससे कह देना ।' तदनन्तर नारदजीने भगवान्‌से और भी भक्ति, प्रेम, ज्ञान, वैराग्यसम्बन्धिनी चर्चा की ।

फिर नारदजी वहाँसे लौटकर उसी पीपलके वृक्षके नीचे बैठे उस भक्तके पास पहुँचे । नारदजीको देखते ही भक्त उनके चरणोंमें गिर पड़ा और बड़ी व्यग्रतासे पूछने लगा—'प्रभो ! क्या मेरी भी चर्चा वहाँ चली थी ?' उसकी व्याकुलताभरी बात सुनकर नारदजी आश्चर्यान्वित हो गये और बोले—'तुम्हारा प्रसङ्ग चला तो था, किंतु कहनेमें संकोच होता है ।' भक्तने कहा—'भगवन् ! संकोच किस बातका है ? क्या भगवान्‌ने साफ इन्कार कर दिया ? क्या इस जन्ममें मुझे भगवान् नहीं मिलेंगे ? जो भी हो, आप मुझे बतलाइये तो सही । आप संकोच न करें, मुझे इससे कोई दुःख नहीं होगा ।'

उसके आग्रह करनेपर नारदजीने सारी बात ज्यों-की-त्यों बतला दी और कहा—'अन्तमें भगवान्‌ने तुम्हारे लिये यही कहा है कि इस प्रकार साधन करते-करते इस पीपलके वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंमें मेरे दर्शन होंगे ।' इतना सुनते ही वह भक्त आश्चर्यचकित हो गया और करुणाभावपूर्वक गद्‌गद वाणीसे कहने लगा—'क्या मुझ-जैसे अधमको भगवान्‌के दर्शन होंगे ? क्या यह बात भगवान्‌ने अपने श्री-मुखसे कही है ? अहा ! जब कभी हो, मुझे भगवान्‌के दर्शन तो अवश्य ही होंगे !' नारदजी बोले—'होंगे तो सही, क्योंकि भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखसे कहा है; किंतु होंगे बहुत ही विलम्बसे ।' यह सुनकर कि 'भगवान्‌के दर्शन अवश्य होंगे' उस भक्तके आनन्दका ठिकाना नहीं रहा । उसका भाव बदल गया । वह आनन्दविह्वल होकर प्रेमार्द्रभावसे भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन करता हुआ जोरोंसे नाचने लगा । आनन्द और प्रेममें वह इतना निमग्न हो गया कि उसे अपने तन-बदनकी भी सुधि नहीं रही । फिर विलम्ब ही क्या था । भगवान् उसी क्षण वहाँ प्रकट हो गये । भगवान्‌को देखकर नारदजी अवाक् रह गये । उन्होंने पूछा—'भगवन् ! आप तो कहते थे कि इस प्रकार साधन करते-करते, इस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंमें मेरे दर्शन होंगे । परंतु वर्षोंकी बात तो दूर रही, अभी तो एक मुहूर्त भी नहीं बीत पाया है कि आप प्रकट हो गये ।' भगवान् बोले—'नारद ! वह बात दूसरी थी और यह बात ही दूसरी है । मैंने तुमसे कहा था न कि तुम इसके रहस्यको नहीं जानते ।' नारदजीने कहा—'प्रभो ! इसका क्या रहस्य है, वह मुझे बतलाइये ।' भगवान् बोले—'नारद ! उस समय तो इसके साधनमें क्रिया-की ही प्रधानता थी, किंतु अब इस समय तो इसके क्रियाके साथ ही भावकी भी प्रधानता है । साधुओंकी सेवा-शुश्रूषा, व्रत-उपवास, तपस्या, गीता-पाठ, सत्पुरुषोंका संग, स्वाध्याय और भजन-ध्यान आदि साधनरूप मेरी भक्ति करना बहुत ही उत्तम क्रिया है । इन सब क्रियाओंके साथ जबतक अनन्य प्रेमभाव नहीं होता, तबतक उसके लिये विलम्ब होना उचित

ही है। जब भक्त अपनेको भुलाकर अनन्य प्रेमभावमें मुग्ध होकर केवल मेरे भजन-कीर्तनमें ही निमग्न हो जाता है, फिर मैं एक क्षण भी नहीं रुक सकता। इस समय इसका जो अपूर्व पवित्र प्रेमपूर्ण भाव है, उसकी ओर तो देखो; उस समय क्रिया उत्तम रहते हुए भी इसका ऐसा भाव नहीं था। इसीलिये मैंने यह कहा था कि इस प्रकारका साधन करनेपर तो उस वृक्षके जितने पत्ते हैं, उतने वर्षोंके बाद मेरे दर्शन होंगे।' इस रहस्यको सुनकर नारदजी भी प्रेमविह्वल हो गये और भावावेशमें अपनी सारी सुध भूलकर भगवान्के नाम और गुणोंका कीर्तन करते हुए उद्दण्ड नृत्य करने लगे।

दोनों भक्तोंकी इस प्रेमरूपी स्थितिसे स्वयं भगवान्में प्रेम प्रकट हो गया। उनकी भी वैसी ही स्थिति हो गयी। भगवान्की तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
(गीता ४। ११)

अर्थात् 'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ।'

यों कुछ समयतक विचित्र प्रेमराज्यकी प्रगाढ़ स्थितिमें रहनेके अनन्तर तीनोंको जब बाह्य चेतना हुई, तब वे प्रेममें मुग्ध हुए परस्पर बातचीत करने लगे। तदनन्तर भगवान् उस भक्तके साथ विमानमें बैठकर परम धाममें पधार गये और नारदजी प्रेममें विभोर होकर भगवद्गुणानुवाद गाते हुए अपने गन्तव्य स्थानकी ओर चल दिये।

इस प्रसङ्गसे हमें यह शिक्षा लेनी चाहिये कि समस्त क्रियाओंमें भगवान्की भक्ति उत्तम है तथा उस भक्तिके साथ निष्काम और अनन्य प्रेमभावका समावेश होनेपर फिर भगवान्के मिलनमें एक क्षणका भी विलम्ब नहीं होता। इसलिये उपर्युक्त प्रकारसे निष्काम अनन्य प्रेमभावपूर्वक ही निरन्तर भजन-ध्यानादि उत्तम क्रिया करनी चाहिये।

अमूढ़

[कहानी]

(लेखक—श्री 'चक्र')

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
(गीता १५। ५)

'आपके अभावमें पार्टीको पर्याप्त क्षति होगी।' आपका यह पार्टियोंका देश है। यहाँका शासन दलोंपर निर्भर करता है और ये दल उन विशेष व्यक्तियोंपर निर्भर होते हैं, जो अपनी वक्तृत्वशक्तिसे जनताको प्रभावित करनेमें समर्थ होते हैं। जो अपनी योग्यतासे चुनावमें विजय प्राप्त कर सकें, दल ऐसे ही पुरुषोंको अपना प्रमुख बनाता है। उस दिन उस प्रख्यात दलके मुख्य नेताओंकी अन्तरङ्ग बैठक थी। उनके प्रधानने सहसा सूचना दे दी थी कि वे भारत जायँगे और कदाचित् पुनः न लौटें। चुनाव समीप है। प्रचार-कार्य प्रारम्भ हो गया है। आशा की जा रही है कि इस बार दलका चुनावमें बहुमत हो जायगा और मन्त्रिमण्डल बनानेका अवसर मिलेगा। जिसपर यह सब निर्भर है—जो प्रधान मन्त्रित्व प्राप्त करेगा, वही पृथक् हो रहा है। बड़ी खलबली और आकुलता है नेताओंमें। 'आप चुनावके पश्चात् यदि भारत पधारें तो वहाँ अधिक सम्मान और सुविधा प्राप्त होगी।'

'मैं जानता हूँ—किसी देशका प्रधानमन्त्री दूसरे देशमें पूर्णतः सम्मानित होता है और विश्वमें हमारा देश प्रथम-कोटिका राष्ट्र है। भारतसे हमारे सम्बन्ध अत्यन्त मित्रतापूर्ण हैं। साथ ही चुनावमें अपने दलकी विजयमें मुझे कोई सन्देह नहीं।' प्रमुखका स्वर गम्भीर बना रहा। बीचके टेबलपर रक्खे अपने ही मुट्ठी बँधे हाथपर उनकी दृष्टि स्थिर रही। 'लेकिन मेरा कार्य अभी ही पर्याप्त कठिन हो गया है। मैं भारतसे सम्मान पानेको नहीं, वहाँके किसी महापुरुषके चरणोंमें बैठकर शान्ति पाने जाना चाहता हूँ।'

'आपको अशान्ति या क्लेश क्या? चुनावके दौरे आप चाहें तो स्थगित कर सकते हैं। आपके रेडियो-भाषण ही पर्याप्त हैं।' नेताओंको अपने भविष्यकी चिन्ता अधिक है। यदि प्रमुख रुक जाय तो शेष दौड़-धूप वे कर लेंगे। इधर

पिछले वर्षसे प्रमुखकी रुचि दार्शनिक ग्रन्थोंकी ओर बढ़ती जा रही थी। वे भारतके प्रशंसक हो गये थे और बहुधा उनकी यह प्रशंसा उनके सहकर्मियोंको अरुचिकर हो उठती थी। इतनेपर भी उनकी योग्यता, मृदुता, उदारता, सहिष्णुतासे सब आकृष्ट थे। वे सहयोगियोंपर रुष्ट होना जानते ही नहीं; परंतु क्रमशः एकान्त-प्रियता बढ़ती गयी और यदि चुनाव समीप न होता तो दलने अवश्य किसी दूसरेको प्रमुखता देनेका प्रयास कर लिया होता। अब इतना समय नहीं।

'मेरी अशान्ति ऐसी नहीं, जैसी आप सब समझते हैं।' उन्होंने मस्तक उठाया। 'यह सभाएँ, यह भीड़, यह प्रशंसा और यह सम्मान ही मुझे अशान्ति देता है। मैं चाहता हूँ ऐसे स्थानमें रहना, जहाँ मुझे कोई न जाने। मुझे आन्तरिक शान्ति मिले।'

'आप कुछ सप्ताह कहीं एकान्तवास करें।' एकने प्रस्ताव किया। 'मेरा ग्राम-निवास इसके लिये उपयुक्त रहेगा।'

'लेकिन मैं एकान्तसे फिर इस कोलाहलमें आना जो नहीं चाहता।' किसीको सम्पत्ति एवं सम्मानका अजीर्ण भी हो सकता है, यह बात साधारण मस्तिष्कमें तो आनेसे रही। 'केवल भीड़से एकान्त ही नहीं—मुझे इस अपने शरीरसे भी एकान्त चाहिये। मुझे पूर्ण शान्ति पुकार रही है और भारतके अतिरिक्त दूसरा कोई स्थान मैं नहीं देखता, जहाँ उसके द्वारतक पहुँचानेवाला मार्गदर्शक प्राप्त हो सके!'

'भारतमें एक सामान्य यूरोपियनका अब वह सम्मान नहीं, जैसा पहले था।' वक्ताका संकेत पराधीन भारतकी स्थितिकी ओर था। 'वहाँके साधु आपको कदाचित् छूना भी पसंद न करेंगे और परिवारके साथ तो उनके आश्रममें आप नहीं ही रह सकते!' वक्ताने अपने दूसरे साथियोंकी ओर एक कटाक्षपूर्ण दृष्टि डाली।

'मैंने भारतके सम्बन्धमें पर्याप्त पढ़नेका प्रबन्ध किया है और भारतीय दूतावासके सदस्योंसे बहुत कुछ जानकारी मिली है।' जो विदेश जानेको तत्पर हो, वह उस देशके सम्बन्धमें कुछ न जानता हो—यह कैसे सम्भव है। 'मैं एकाकी जा रहा हूँ। एक भारतीय जलपोतमें मेरे लिये स्थान मिल गया है। इस प्रकार मार्गमें भी बहुत कुछ सीख सकूँगा।'

'अकेले!' जो सदाके लिये भारत जा रहा हो, वह यहाँ स्त्री-बच्चोंको किसके ऊपर छोड़ रहा है!

'तुम भूल गये हो कि प्रभु ईसाने बताया है कि परमात्माके निवासका द्वार इतना बड़ा नहीं कि वहाँ भीड़के साथ प्रवेश किया जा सके।' प्रमुखकी वाणी भावपूर्ण हो गयी। 'एलिस (उनकी स्त्री) के लिये बैंकमें पर्याप्त सम्पत्ति है। मैंने कल सब उसके नाम कर दी है। बच्चोंको वह प्यार करती है और उनकी शिक्षाका उसे मुझसे अधिक ध्यान है।'

'तो आपने अपने पौंड भारतीय सिक्कोंमें वहाँ पानेकी व्यवस्था नहीं की?' कैसा है यह विचित्र पुरुष जो सम्पत्ति इस प्रकार स्त्रीको दे डाले।

'मैं थोड़े-से सिक्के वहाँ पा सकूँगा।' अध्यक्ष हँस रहे थे। 'जहाँ रहना हो, उस देशके अनुकूल जीवन बनाये विना वहाँका नैतिक लाभ नहीं पाया जा सकता।' जिसे स्त्री-बच्चे तथा अपना ही ध्यान न हो, उससे दूसरोंको—संस्थाको क्या आशा!

× × × ×

(२)

'मैं विवाद नहीं करूँगा। सम्भव है मैं भूल करता होऊँ; किंतु अपने निश्चयको केवल तर्कसे समर्थित न होनेके कारण त्याग नहीं सकता।' जलपोतमें अधिकांश यात्री भारतीय थे—कुछ बंगाली, कुछ मद्रासी तथा कुछ दूसरे प्रान्तोंके। यद्यपि उनमें थोड़े लोगोंने भारतीय वेश-भूषा धारण की थी, अधिकांश तो यूरोपीय वेशमें ही थे। उन्हें यह अंग्रेज बड़ा अद्भुत लगा, जो धोती-कुर्ता पहने,नंगे सिर भारत आ रहा था। स्वभावतः उसके आसपास दूसरे यात्रियोंकी भीड़ लगने लगी। वह हिंदी प्रायः शुद्ध बोल लेता था और टूटी-फूटी संस्कृत भी। आज जब विश्व 'प्रगति'के नवीन प्रकाशमें चल रहा है, यह वही धर्म एवं ब्रह्मका पुराना पागल है कोई। उसके पास प्रत्येकके तर्कोंका एक ही उत्तर है—मौन। वह बहसमें उतरता ही नहीं।

उसका घुटा सिर और उसपर बड़ी-सी चुटिया न होती तो उसे अवश्य लोग पहचान लेते। इतने प्रसिद्ध व्यक्तिको अपने मध्यमें देखकर सबको आश्चर्य होता; किंतु पूछनेपर भी वह अपना परिचय कहाँ देता है। 'सत्यशरण' उसने एक भारतीय नाम रख लिया है अपना और जहाजके कप्तान भी उसका परिचय किसीको देते नहीं। उसने अपना पासपोर्ट भी इसी नामसे बनवा लिया है।

'आपको भारतके किसी आश्रममें इतनी बहुलतासे शुद्ध मक्खन और पर्याप्त फल सदा मिलें, यह कठिन ही होगा।' जब वह स्वीकार करता है कि उसने पिछले वर्षतक अपनेको यहाँ सहज भोजनपर रक्खा है तो अब यह फल एवं मक्खनपर

रहनेका आडम्बर क्यों ? कुछ लोगोंको दूसरोंके संयममें सदा दम्भ ही दीखता है। संयमका उपहास आज गौरवकी वस्तु हो गयी है। उस यूरोपियनको चिढ़ानेमें, उसपर आक्षेप करनेमें लोग एक प्रकारका विनोद कर लेते हैं।

'वहाँ तो रोटी, चावल, शाक और दूध—मेरे लिये इन आहारोंकी पर्याप्त सुविधा रहेगी!' वह जैसे क्षुब्ध होना जानता ही नहीं। 'यहाँ तो डिब्बेका जमा हुआ दूध विवशतः लेना पड़ता है!' जैसे भारतीय आहार ही वह सदासे करता आया हो तथा उसके स्मरणसे सुविधाका ध्यान कर रहा हो।

'आप अपनी इस छोटी कोठरीमें ऊबते नहीं!' उसे तो अपने कमरेसे निकलनेकी बहुत कम इच्छा होती है; परंतु दूसरोंसे उसके यहाँ आये बिना जो नहीं रहा जाता। 'आजके नृत्यमें आपको मेरा साथ देना है।' एक युवतीने आमन्त्रित किया। यूरोपसे लौटनेपर वहाँका स्त्री-पुरुषोंका सम्मिलित नृत्य वहाँके आचारके साथ ही इन भारतीय तरुणोंने अपनाया है।

'मुझे खेद है कि आपका साथ नहीं दे सकूँगा!' नम्रतापूर्वक उसने प्रस्ताव अस्वीकृत किया। 'मेरे पास पढ़ने एवं सोचनेका इतना अधिक काम है कि मुझे अवकाश नहीं मिलता। भारत पहुँचनेसे पूर्व इन ग्रन्थोंको समाप्त कर लेना है।'

'ये पुस्तकें!' भारतीय दर्शनों तथा योग-ग्रन्थोंके ये अनुवाद हैं, यह तो प्रायः सबको ज्ञात हो चुका है। 'आप इन शताब्दियों पुराने विचारोंके पीछे क्यों पड़े हैं!' युवतीने कटाक्ष किया।

'इसलिये कि मैं स्वयं वृद्ध हो चला हूँ और पुरातन सत्य ही मेरे लिये खोजकी वस्तु है।' बिना अप्रतिभ हुए उसने उत्तर दिया।

'आज हम इन भावुकताओंसे मुक्त हो चुके हैं।' युवतीका संकेत आधुनिक भारतीय प्रवृत्तिकी ओर था।

'विश्वका—मानवका दुर्भाग्य!' उस यूरोपियनने एक दीर्घ निःश्वास लिया और मस्तक झुका लिया। 'जहाँसे प्रकाश पानेकी आशा है, वहीं अन्धकारका अनुगमन होने लगा है!' बहुत धीरे-धीरे फुसफुसाया वह। अवश्य ही युवतीने इन शब्दोंको सुन लिया। अन्यथा अपमानितकी भाँति रोषपूर्वक वह उठकर चल न देती। अपने साथीके रोकनेपर तो रुक ही जाना चाहिये था उसे।

'पागल है यह!' साथके तरुणने कमरेसे बाहर आकर युवतीको समझाया।

'पूरा पत्थर है!' युवती झल्लायी हुई थी। 'पत्थरकी भाँति ही उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हम सबके बीचमें रहकर भी जैसे वह जंगलमें है। ऐसे हृदयको कोई पशु होना चाहिये था।

'पत्थरसे भी गया बीता!' तरुणको चाटुकारी करनी थी। 'पत्थरको तो काट-पीटकर कोई रूप भी दिया जा सकता है, पर वह है जो अपने पागलपनमें पुस्तकोंमें सिर छुकाये लगा ही रहता है, किसी कीड़ेकी भाँति।' तरुणने घृणा व्यक्त की।

'राम! राम! राम!' बंद कमरेसे दीर्घ-मन्दस्वर आ रहा था।

'वह क्या कह रहा है?' युवतीने पूछा कुछ रोषपूर्वक।

'कदाचित् वह धुरधुरा रहा है!', तरुणने मुख बनाया। 'बराबर वह यही बोलता रहता है, फिर चाहे अपनी उन सड़ी पुस्तकोंमें उलझा हो या सिर झुकाकर कोई 'खयाली पुलाव' पका रहा हो। तुमने उसे बराबर ओठ हिलाते देखा था न। वह तब भी फुसफुसा रहा था।' बात ठीक है। आजकल वह निरन्तर 'राम'नामके जप और उसके अर्थ-चिन्तनमें लगा है। उसके अध्ययनका विषय भी यही है।

× × ×

(२)

'मैं न योगी हूँ और न सिद्ध!' श्रीसरयूजीके किनारे ज्येष्ठकी चिलकती दोपहरीमें, जब कि तप्तवायु लोगोंको घरोंसे निकलने नहीं देती, एक बबूलकी साधारण छायामें कौपीन लगाये पड़े रहना किसी तपस्वीके लिये ही सहज हो सकता है। होठ धीरे-धीरे हिल रहे थे। केवल कौपीन लगाये वे बैठे थे। पासके तूंबेका जल आधा हो गया था और वायुने उसमें अवधकी पावन रेणुका मिला दी थी। इस एकान्तमें, इस मार्तण्डकी अग्निवृष्टिके मध्य जो उनके समीप बस्तीमें नंगे पैरों चलकर आया है, उसकी श्रद्धामें कैसे सन्देह किया जा सकता है। 'ये यूरोपियन बड़े कष्टसहिष्णु और धुनके पक्के होते हैं।' बाबाजीने प्रातः आये संतोंसे इस यूरोपियनकी चर्चा सुनी है। उन्होंने पहले भी सुना है कि यूरोपके लोग योग एवं चमत्कारके प्रति बहुत उत्सुक होते हैं।

'मुझे शान्ति चाहिये।' आगन्तुकने महात्माके चरणोंके समीप भूमिमें मस्तक रक्खा। वह भारत आकर इतना समझ गया है कि उसे स्पृश्यास्पृश्यभावका आदर करना चाहिये।

उसका श्वेत वर्ण कड़ी गरमीसे लाल हो गया है और पसीनेसे प्रायः भीग गये हैं उसके सब वस्त्र। 'मैं आपके चरणोंमें कृपाकी याचना करने आया हूँ।' शब्दोंकी अपेक्षा नेत्रोंने हृदयको अधिक स्पष्ट किया।

'तुम्हारी चमड़ी सफेद है। लोगोंका तुम्हारे प्रति इसीसे आकर्षण है।' साधु किसीका संकोच क्यों करने लगे। 'तुम किसी आश्रममें जाओ; वहाँ तुम्हें सब सुविधा मिलेगी।'

'मेरा रंग ही मेरा पाप है।' वह बच्चोंकी भाँति सिसक उठा। यात्रामें अदन पहुँचते ही जहाजके यात्रियोंमें धूम मच गयी थी। उसका परिचय समाचारपत्रोंने प्रकट कर दिया था। बम्बईकी भूमिपर पैर रखनेसे पूर्व ही भारतीय अधिकारियोंने उसका स्वागत किया। उसके बहुमूल्य समयमेंसे कई महीने स्वागत-सत्कार और शिष्टाचारमें नष्ट हो गये। राजनीतिने उसे अपना यन्त्र बनाना चाहा। कितनी कठिनाईसे वह अपनेको तब एक साधारण नागरिककी स्थितिमें लानेमें समर्थ हुआ, जब प्रायः सभी सम्पर्कमें आनेवालोंने उसे निकम्मा तथा अर्ध-विक्षिप्त समझ लिया। उसे राजनीतिने छुट्टी दी तो आश्रमोंने उलझाना चाहा। विद्वत्ता, चमत्कार तथा दूसरे प्रलोभन उसे दिये गये। उसे अपनी महत्ताका श्रेष्ठ विज्ञापन माना गया। दूसरी ओर जो समर्थ हैं, सचमुच साधु हैं, वे उसे—उसके रंगको अपने लिये बाधक मानते हैं। उसे वहानेसे हटा देना चाहते हैं। साधुके शब्दोंने मार्मिक व्यथा दी।

'तुम्हें व्यथित करना मुझे इष्ट नहीं।' साधु द्रवित हुए 'किंतु आराधनाका मार्ग केवल त्याग, विश्वास और प्रेमका मार्ग है। इसमें देना ही देना है, पाना नहीं! तुम किसी योगीके समीप जाते तो वह तुम्हें दिव्य सिद्धियोंके मार्गमें लगा सकता। मेरे पास तो श्रीअवधकिशोरका सीधा-सा नाम है।' कोई विदेशी केवल नामजपमें आस्था कर लेगा, बिना कुछ चमत्कार पाये—यह कैसे सहसा मान लिया जाय।

'मैंने परलोक एवं उसकी सिद्धियोंकी बातें सुनी हैं।' सच्चे साधक सभी देश और जातियोंमें हो सकते हैं। उन्हें तुच्छ प्रलोभन आकर्षित करनेमें असमर्थ ही रहे हैं। 'मुझे तो वह मार्ग दीजिये, जो हृदयके द्वारको खोल दे। मैं भीतर देख सकूँ।'

'तब तुम भगवान् श्रीरामका परमपावन नाम लो।' आप इसे चाहें तो दीक्षा कह सकते हैं। महापुरुषोंकी साधना उनकी वाणीमें जो शक्ति निहित कर देती है, वह साधकके लिये प्रेरणा होती है।

'मैं कृतार्थ हुआ।' उसने भालको वहाँकी रजसे भूषित कर लिया पृथ्वीपर मस्तक रखकर।

'उत्तराखण्ड ही तुम्हारे लिये उपयुक्त है।' साधुने आदेश दिया। 'सरयूजीके उद्गमके नीचे, उनके तटपर जहाँ एकान्त और सुविधा हो; किंतु जनपथसे दूर। तुम्हारा वर्ण लोगोंको फिर भी आकर्षित करेगा। सावधान रहना होगा तुम्हें!' महात्माने अपने हाथकी सुमिरनी दे दी प्रसाद-स्वरूप।

वह उठा, परिक्रमा की, प्रणाम किया और उसी दुपहरीकी लपलपाती लूमें निःशब्द लौट पड़ा। एक शब्द कृतज्ञता अथवा स्तुतिके नहीं निकले उसके मुखसे। कण्ठ भरा हुआ था और वायु नेत्रोंके जलको सुखा नहीं पा रहा था।

× × ×

(४)

'इधर कोई महात्मा रहते हैं!' वैद्य ओषधियाँ ढूँढ़ते हैं, भौगोलिक पाषाण एवं जलकी परख करते हैं, ऐतिहासिक फोटो लेते हैं, कवि गुनगुनाते हैं और चित्रकार इधर-उधर दृश्योंपर क्षुब्ध होते हैं, ये साधु यात्री साधुओंकी खोजमें हैं। पर्वतराजका यह विपुल विस्तार जो जिस रुचिका है, उसी रुचिका आकर बन जाता है।

'साधु तो उत्तरकाशीमें रहते हैं! ऊपर गङ्गोत्रीमें मिलेंगे और आप सब जायँ तो यमुनोत्रीमें भी।' पर्वतीय कुलीने जो वह जानता है, वही बताया। 'यहाँ रास्तेमें कोई साधु नहीं रहते।'

'यहाँसे सरयूजीकी धारा कितनी दूर है?' उत्तरकाशीसे गङ्गाजीका मार्ग छोड़कर इस पर्वतीय ग्रामोंके मार्गसे ये बाबाजी क्यों चल रहे हैं, यह कुली समझ नहीं सका था।

'दो दिन लगेगा, दो दिन!' उसने अँगुलियाँ दिखाकर बताया। उसे आशा थी कि इतनी दूर आनेपर भी दो दिनका और मार्ग सुनकर ये लोग लौट चलेंगे। उसे यह मार्ग पसंद न था। पगदण्डीका पथ—कहीं मार्गमें चट्टी (पड़ाव) नहीं। ग्रामवालोंकी दयापर ही निर्भर रहना पड़ता है। कहाँ वह इन लोगोंके साथ आ गया। जानता कि ऐसी यात्रा होगी तो वह दैनिक मजदूरीके लोभमें कभी न आया होता।

'श्रीसरयूजीके किनारे ऊपर एक महात्मा रहते हैं न?' उत्तरकाशीमें किसीने उनके दर्शन नहीं किये, पर लोगोंने उनकी चर्चा सुनी है।

'महात्मा ? नहीं तो।' कुलीने कुछ सोचा। 'हाँ, एक देवता वहाँ कभी-कभी किसीको दिखायी पड़ते हैं। वह क्या सबको दीखते हैं ? जिसे उनके दर्शन होते हैं, निहाल हो जाता है। मेरे एक साथीने उन्हें देखा था, उसे पिछली गर्मीमें छः सौ रुपये मिले।……' पता नहीं क्या-क्या बतलाता वह। ये लोग देवताके दर्शन करने जा रहे हैं। यदि भाग्यसे उसे भी दर्शन हो जायँ—उसे भैंस लेना है, एक घर बनाना है, बेटीका इस वर्ष विवाह करना है। यात्राके लिये उत्साह आया उसमें।

'कैसे हैं वे देवता ?' बीचमें ही एक साधुने पूछा।

'इस बरफ जैसे सफेद !' कुलीने मस्तक झुकाया। 'कभी-कभी वे बरफके बीचमें खड़े या बैठे दीख जाते हैं !' पता नहीं क्या-क्या सुना है उसने। देवताके शरीरसे कितना प्रकाश निकलता है, कितना विशाल शरीर है उनका, कैसे वे आकार बदल लेते हैं, कैसे अदृश्य हो जाते हैं, किस प्राचीन राजाके ऊपर कृपा करके वे वहाँ प्रकट होने लगे हैं, इस प्रकार अनेकों सुनी-सुनायी और कल्पनासे बनी हुई बातें सुनायीं उसने।

'यह किसी मनुष्यके पदचिह्न हैं !' एक साधुने अन्ततः यात्राके उन कठिन दिनोंके व्यतीत होनेपर श्रीसरयूजीके तटसे थोड़ी दूर हिमपर एक चिह्न देखा।

'परसों रातमें वर्षा हुई थी, यह उसके बाद यहाँ आया होगा।' कुलीने सोचकर बताया।

'कहीं यह तुम्हारे देवताका ही चरणचिह्न न हो।' एकने हँसकर कहा।

'देवताके चरणचिह्न।' कुली रुका। उसने ध्यानसे देखा 'नहीं, है तो मनुष्यके पैरका ही; परंतु यहाँ यह क्यों आया ?' ग्राम दो दिनसे कोई मिला नहीं। इस वृक्ष-तृण-हीन भूमिमें क्या करने कोई आवेगा। कुलीने इधर-उधर देखा। कोई समाधान नहीं था उसके समीप।

'देवता क्या मनुष्य-जैसा नहीं बन सकता ?'

'देवता ही होंगे !' कुलीने उस चिह्नपर मस्तक रक्खा। 'वे चले गये। हमलोगोंके भाग्य अच्छे नहीं।' उसकी निराशा दूसरे नहीं समझ सकेंगे।

'हमलोग इस चिह्नके पीछे चलें!' साधुने प्रस्ताव किया।

'देवताका क्या इस प्रकार पता लगता है !' आशा बड़ी बलवती होती है। कुली अपने तर्ककी चिन्ता न करके स्वयं उन चिह्नोंको देखता बढ़ता जा रहा था। एक छोटा-सा टीला था, जिसके पीछे तक वे चिह्न गये थे। 'प्रभो !' दूरसे ही कुछ देखकर वह भूमिपर साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगा।

बड़े-बड़े कुछ पाषाणखण्ड, उनके ऊपर भी पत्थर रख लिये गये थे। बैठने भरको स्थान बन गया था उसमें। द्वारके अतिरिक्त शेष सब भाग ऊपर एवं बगलोंका हिमपातमें आच्छादित हो गया था। उस छोटी कृत्रिम गुफामें कोई आसन लगाये बैठा था। उसके शरीरसे आभा छिटक रही थी। वह आभा गुफाको प्रकाशित किये थी।

'राम ! राम ! राम !' मुख बंद था, नेत्रोंकी पलकें ऊपर उठ गयी थीं। होंठ हिलते नहीं थे; परंतु स्पष्ट सबने सुना कि जप चल रहा है। ध्वनि कहाँसे आती है, कहना कठिन है।

'रामनामदास !' यात्रियोंमेंसे वृद्ध साधु आगे बढ़ आये। धीरेसे जैसे अपने ही आप वे कुछ कह रहे हों। उनकी ध्वनिमें भाव, स्नेह, श्रद्धा, पता नहीं क्या था।

'राम !' एक बार पलकें खुलीं, मस्तक झुका और फिर ज्योति, कान्ति तथा ध्वनि सब अदृश्य हो गयी।

'वह चला गया !' वृद्ध महात्मा धीरेसे पीछे मुड़े। 'सम्भवतः मेरी प्रतीक्षा कर रहा था।'

'कहाँ चले गये ?' गुफा छोटी थी। वृद्ध द्वारपर थे। पीछेके लोगोंने कुछ देखा नहीं था। उन्होंने समझा, सचमुच देवता ही भीतर थे। उन्हींके अदृश्य होनेकी बात कही गयी।

'श्रीराघवेन्द्रके अविनाशी आनन्दमय साकेतमें।' वृद्धने थोड़े शब्दोंमें समझा दिया।

वैष्णव साधुओंके करोंसे गुफाद्वार बंद हो गया उसी दिन। हिमकी अपार राशिमें उस महातापसका शरीर सुरक्षित है या नहीं, कौन कह सकता है।

रामभक्तके लक्षण

तुलसी ममता रामसों समता सब संसार।
राग न रोष न दोष दुख दास भए भवपार॥

(दोहावली)

ईश्वर ही जानता है

(लेखक—श्रीलेस्ले ई० डन्किन)

जब भी कोई शारीरिक व्याधि हमारे घरमें आती है, तब अधिकतर हमारा झुकाव एक ऐसे तथ्यकी अवहेलनाकी ओर रहता है, जो हमारी परिस्थितिपर एक नया प्रकाश डालता तथा हमें नवीन शक्ति प्रदान करता है। अपने जीवनकी प्रथम तीन भयानक व्याधियोंसे, जिनका मुझपर आक्रमण हुआ, मैं घबरा-सा उठा; परंतु चौथी बार मैंने उसका बिना किसी विशेष डरके सामना किया, यद्यपि इस बार अपनी हानिका भय पूर्वापेक्षा अधिक था। इस समयतक मुझे इस बातका अनुभव एवं विश्वास हो गया था कि 'ईश्वर ही जानता है'।

जब मैं माकी गोदमें एक अबोध शिशु था, तब डाक्टरोंने मेरे माता-पिताको यह बताया कि वे मुझसे युवावस्थाके पूर्व ही हाथ धो बैठेंगे। बात भी कुछ ऐसी ही थी, सभी मेरे जीवित रहनेमें सन्देह करते थे। मेरी मा इन बातोंसे भयभीत हो उठी और वह मुझे ओषधियाँ तथा पौष्टिक पदार्थ इतनी अधिक मात्रामें देने लगी कि ऐसा प्रतीत होता था मानो इन सबको पचाकर तो मैं संयुक्त राष्ट्रके आधे दर्जन जहाजी बेड़ेको ही बहा ले जाऊँगा।

जब मैं स्कूलमें सातवीं कक्षामें पढ़ रहा था, तब मुझपर भयानक अन्त्र-प्रदाह (Appendicitis) का आक्रमण हुआ। डाक्टरने ऑपरेशन करानेपर जोर दिया और साथ ही यह चेतावनी दी कि यदि ऑपरेशन न हुआ तो जल्दी ही मेरी मृत्यु हो जायगी। मैंने प्रश्न किया—'यदि ऑपरेशन न हुआ तो मेरी मृत्यु शीघ्र-से-शीघ्र कितने समयमें हो जायगी?' डाक्टरने कुछ अनिश्चित शब्दोंमें उत्तर दिया—'कितनी शीघ्र होगी इस बातको तो केवल ईश्वर ही जानता है।' मैंने अपने निर्णयके अनुसार आगामी प्रातःकालतक प्रतीक्षा करनेके लिये कहा। मेरे मनमें आया कि जब मेरी मृत्युकी बात ईश्वर ही जानता है, तब मैं अपने-आपको तथा अपनी परिस्थितिको पूर्णरूपसे ईश्वरके ही हाथोंमें सौंपूँगा। रातको मुझे सबसे अधिक आराम रहा। और जब प्रातःकाल उठा तो मैं इतनी अच्छी अवस्थामें था कि डाक्टर महाशयको भी स्वीकार करना पड़ा कि तात्कालिक ऑपरेशनकी इतनी आवश्यकता नहीं है।

तीसरी बार भयभीत होनेकी अपेक्षा पहलेसे ही मैं निराश अधिक हुआ। वह प्रथम महायुद्धका समय था। मैं अपने युवक साथियोंके साथ संयुक्त-राष्ट्रकी सेनामें भर्ती होना चाहता था। परीक्षा करनेवाले डाक्टरने मेरी छातीपर अपने फुफ्फुस-परीक्षा-यन्त्र (स्टेथोस्कोप) को रक्खा और तुरंत ही अपनी सम्मति दी—'सेना या किसी अन्य कामके योग्य नहीं है।' बस, परीक्षा वहीं समाप्त हो गयी।

मैं हृद्-रोगके एक विशेषज्ञके पास पहुँचा। उसने पूर्णरूपसे मेरी परीक्षा की। अपनी सम्मति देते हुए उसने चिन्ताके भावमें अपना सिर हिलाकर कहा—'मानवी शक्तिसे बचनेकी कोई आशा नहीं।' मैंने पूछा—'कबतककी आशा है?'

चेतावनीके शब्दोंमें उसने कहा—'केवल ईश्वर ही जानता है।'

अपने पिछले अनुभवका स्मरण करते हुए मैंने उत्तर दिया—'हाँ, ईश्वर तो जानता ही है। और जब वही जानता है, तब मैं अपने-आपको पूर्णरूपसे उसीके हाथोंमें सौंपूँगा।'

इस बातको क्रियात्मक रूप देते हुए मैं अपने प्रतिदिनके खाली समयके अधिकांश भागको प्रार्थना, धर्मग्रन्थ-पाठ तथा अध्ययनमें बिताने लगा। मैंने ईश्वरसे मार्ग-प्रदर्शन तथा विवेकके लिये प्रार्थना की। स्वस्थ जीवनके लिये मार्ग-प्रदर्शनहेतु मैंने धर्मग्रन्थ अध्ययन किया।

इस प्रार्थना, चिन्तन तथा अध्ययनके परिणामस्वरूप दो प्रधान क्रियात्मक विचार मेरे सामने आये—प्रथम सादा जीवन तथा द्वितीय उन्नत विचार।

सादे जीवनमें मैंने पाँच बातोंको स्थान दिया—

१—यथासम्भव किसी भी प्रकारकी औषधका प्रयोग न करना। मेरी मा मुझे सभी प्रकारकी ओषधियाँ खूब धन खर्च करके दे चुकी थी, परंतु सब व्यर्थ हुई; हृद्-रोग-विशेषज्ञकी भी यह निर्णयात्मक सम्मति थी—'मानवी शक्तिसे बचनेकी कोई आशा नहीं।' अतएव अब मैं यही चाहता था कि ईश्वर अपने ढंगसे मुझे औषध एवं स्वास्थ्य प्रदान करे; क्योंकि मैं अपने आपको पूर्णरूपसे उसीके हाथोंमें सौंप चुका था।

२—किसी भी रूपमें तम्बाकूका उपयोग एवं उत्तेजक पेय—मद्य आदि और औषध-सेवन आदिकी बुरी आदतोंको

आश्रय देना बंद कर दिया। साथ ही निद्रा और विश्राम कम लेने तथा इसी प्रकारकी अन्य आदतोंका, जिनका मुझपर बुरा प्रभाव पड़ा था, त्याग कर दिया।

३–विभिन्न प्रकारके स्वास्थ्यप्रद खाद्य पदार्थोंका सेवन आरम्भ किया। चर्बी उत्पन्न करनेवाले पदार्थोंके अधिक उपयोगको छोड़ दिया। इस प्रकार देखते-देखते विभिन्न प्रकारके खाद्य पदार्थों तथा उनके मिश्रणोंका मेरे शरीरपर बहुत सुन्दर प्रभाव पड़ा।

४–ईश्वरके अपने अर्थात् प्राकृतिक पौष्टिक पदार्थ तथा ओषधियों—दूध और पानीका प्रचुरतासे सेवन करने लगा।

५–उचित मात्रामें स्वास्थ्यवर्द्धक व्यायाम करना प्रारम्भ किया। पहलवान बननेकी मेरी इच्छा नहीं थी, मैं तो केवल स्वस्थ जीवन चाहता था।

उन्नत विचारके क्षेत्रमें मैंने तीन बातोंको प्रधानता दी।

१–मैं प्रत्येक व्यक्तिको प्रेम करनेकी चेष्टा रखता था तथा प्रत्येक वस्तुको, जो मेरे लिये हितकर थी, पसंद करता था। मैंने घृणा और पीड़नका परित्याग कर दिया; क्योंकि ये मस्तिष्क एवं शरीरको विषाक्त कर देते हैं। आध्यात्मिक प्रेम हृदय एवं शरीरको शक्ति और बल प्रदान करनेवाला है।

२–मैंने काम करनेका अभ्यास बढ़ाया। मैं इस बातका अनुभव कर चुका हूँ कि अकर्मण्यता एवं व्यर्थकी चर्चा वस्तुतः घातक हैं। विवेकपूर्ण कार्यसे किसीकी क्षति नहीं हो सकती। मैंने अपने कार्यका सुधार किया और इसका शुभ परिणाम यह हुआ कि मैं निरन्तर भगवत्सान्निध्यमें रहकर (भगवत्स्मरणपूर्वक) कार्य करने लगा।

३–प्रतिक्षण भगवद्विश्वासको बनाये रखने तथा इस बातको अनुभव करनेका प्रयत्न किया कि वे प्रभु मेरे और दूसरे प्राणियोंके जीवन एवं शुभ प्रयत्नोंके रूपमें निरन्तर अभिव्यक्त हैं। मैं अपने कर्तव्यको अपनी समझ तथा योग्यताके अनुसार सुन्दरतम रूपमें पूर्ण करनेका प्रयत्न करता और साथ ही यह समझता कि (मेरेद्वारा) ईश्वर अपना कार्य कर रहे हैं।

ईश्वरने मुझे कभी निराश नहीं किया, सदा मेरी सहायता की। हृद्-रोग-विशेषज्ञद्वारा 'मानव-शक्तिसे बचनेकी कोई आशा नहीं' घोषित किये जाने तथा मेरे पूर्णरूपसे ईश्वरोन्मुख हो जानेके एक वर्षके भीतर ही वहाँ भयानक इंफ्लुएँजा फैला। मैं अपने कॉलेजके उन बहुत थोड़े-से फौजी तथा शहरी विद्यार्थियोंमें था, जो इसके प्रभावसे वञ्चित रहे। मैं दिनके प्रत्येक खाली क्षणमें तथा रातको भी पर्याप्त समयतक सैकड़ों रोगियोंकी सेवा-शुश्रूषामें सहायता देता रहता था। सेवाका सबसे अधिक भार उठानेवाले व्यक्तियोंमें मैं ही था, तथापि मैं एक दिन भी अस्वस्थ नहीं हुआ।

इस घटनाको तीस वर्षसे अधिक बीत गये और यह मेरे व्यस्तजीवनका समय रहा है; परंतु एक भी दिन ऐसा नहीं हुआ, जब मैंने अस्वस्थ होनेके कारण अपने कार्यसे विश्राम लिया हो। हाँ, बीचमें एक बार दाहक गठियासे मैं तेरह सप्ताह अवश्य पीड़ित रहा। परंतु इसका मुझे कभी भय नहीं हुआ, यद्यपि डाक्टरोंने इसे असाध्य घोषित कर दिया था। मैं समझता था कि ईश्वर इसे जानता है, और वह मुझे मार्ग-प्रदर्शन करेगा। मैं शीघ्र ही स्वस्थ हो गया। इन तीस वर्षोंकी अवधिमें इस एक समयको छोड़कर मैं कभी शारीरिक अस्वस्थताको प्राप्त नहीं हुआ; मानसिक एवं आत्मिक अस्वस्थताकी तो बात ही क्या, वे तो मुझे कभी भी नहीं हुईं।

मेरा यह अनुभव असाधारण नहीं है। इस बातका अनुभव तथा विश्वास कि 'ईश्वर ही जानता है'—प्रत्येक दृष्टिसे जीवनको स्वस्थ बनानेमें सहायक होता है। वह महान् चिकित्सक शरीर, मन एवं आत्माको निरामय करने तथा उन्हें स्वस्थ और बलिष्ठ बनाये रखनेके लिये सदा प्रस्तुत है।

भजन कर ले

भजन बिनु तीनों पन बिगरे।
बालापन हँस खेल गँवायो, तरुन भये अकरे॥
बृद्ध भये तब कछू न सूझत अंध होय निबरे।
काहेको देह धरी मानुषकी पसु समान गुजरे॥
मन तो धन जोवन मदमातो बोलत गरब भरे।
कहत कबीर सुनो भाई साधो कर ले भजन हरे॥ —कबीर

पूर्वजन्म तथा कर्मफल

(सत्य घटनाएँ)

(१)

बंगाल, फरीदपुर जिला, पो० हाट, कृष्णपुर ग्राम यात्रावाड़ीके श्रीजितेन्द्रनाथ दास वर्मन नामक एक युवकको यक्ष्मा हो गया था। कलकत्तेके बड़े-बड़े डाक्टरोंसे इलाज कराया गया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। रोग दिनों-दिन बढ़ता ही गया। अन्तमें उसने अपने कुलगुरुके आदेशके अनुसार श्रीतारकेश्वर बाबा-के मन्दिरमें धरना दे दिया। कुछ ही दिनोंके बाद तारकेश्वर बाबासे उसको स्वप्नादेश मिला कि 'पूर्व-जन्मके पिताके प्रति बड़ा भारी अपराध करनेके कारण तुझको यह रोग हुआ है। तू यदि उनके चरणरज-को तावीजमें मढ़ाकर धारण कर सके और प्रतिदिन उनका चरणोदक ले सके एवं वे सन्तुष्ट होकर तुझको क्षमा कर दें तो तेरा रोग नष्ट हो सकता है; इसके सिवा अन्य कोई उपाय नहीं है। तेरे वे पूर्वजन्मके पिता इस समय फरीदपुरके बड़े डाक्टर श्रीसत्यरञ्जन घोष एम्० बी० हैं, वे एक महापुरुषके शिष्य हैं।' युवकने पूरी घटना उक्त डाक्टर महोदयको लिख दी और उनके घर जाकर रहनेकी अनुमति माँगी। डाक्टर-बाबू ऐसे यक्ष्माके रोगीको घरमें रखनेसे घबराये। साथ ही उनके मनमें यह भी आया कि यदि मेरे अस्वीकार करनेसे लड़का मर जायगा तो उसका निमित्त मुझे होना पड़ेगा। वे कुछ भी निश्चय नहीं कर पाये और उन्होंने सारी घटना लिखकर श्रीस्वामी धनञ्जयदासजी व्रज-विदेहीसे सम्मति चाही। स्वामीजीने उनको लिखा—"इस प्रकारके संक्रामक रोगीको घरमें रखनेसे डरना स्वाभाविक ही है। परंतु वह अपने किसी परिचित या आत्मीयके घरपर ठहर सकता है, अथवा शहरके बाहर-की ओर किसी खुली जगहमें कोई घर किरायेपर लेकर आप उसे टिका सकते हैं और प्रतिदिन टहलते हुए आप एक बार जाकर उसे चरणरज और चरणोदक दे सकते हैं। फिर जब आपके मनमें क्षमा करनेकी आये, तब क्षमा कर दें। इसमें भी असुविधा हो तो आप अपना एक छायाचित्र (फोटो) उसको भेज दें और लिख दें कि वह इस छायाचित्रको ही आपकी साक्षात् प्राणमयी मूर्ति मानकर उसीकी चरणधूलि और चरणोदक ले लिया करे। ऐसा करनेसे वह साक्षात् आपसे ले रहा है, यही समझा जायगा। और यदि आप उसे रोगमुक्त करना चाहते हैं तो यह भी लिख सकते हैं कि 'मैंने तुम्हारे पूर्वजन्मके अपराधको क्षमा कर दिया है; मैं चाहता हूँ कि तुम रोगमुक्त हो जाओ।'"

स्वामीजीका पत्र मिलनेपर डाक्टर साहबने उसको अपना एक छायाचित्र भेजकर यह लिख दिया कि 'तुम इसीको साक्षात् मेरा स्वरूप मानकर चरणरज और चरणोदक ले लिया करो, मैंने तुमको क्षमा कर दिया है।'

इस पत्रके पानेके बाद युवक क्रमशः स्वस्थ होने लगा और कुछ ही समयमें पूर्ण स्वस्थ हो गया। फिर वह स्वयं डाक्टर साहबके पास गया। डाक्टरने परीक्षा करके देखा उसके फेफड़ोंमें कोई दोष नहीं है। शरीर-से भी खूब स्वस्थ और सबल है। वह एक दिन रहा और डाक्टरसाहबका चरणोदक पीकर तथा चरणरज लेकर चला गया।

(२)

महात्मा श्रीसंतदास बाबाजीने कहा था कि कई वर्षों पहलेकी बात है। कलकत्ता हाईकोर्टके एक सुप्रसिद्ध जज (जस्टिस अमुक, उनका नाम प्रकाशित नहीं किया जा रहा है) परलोकवासी हो गये थे। कहा जाता है कि वे जब जीवित थे, तब उनके भोजन-

में प्रतिदिन दो मुर्गियोंकी आवश्यकता होती थी। उक्त जज महोदय मरकर प्रेत हुए और असह्य नरकयातना भोगने लगे। उस प्रेतात्माने सहायता पानेके लिये बहुतसे आत्मीय स्वजनोंके सामने प्रकट होकर उन्हें दर्शन दिये। परंतु प्रेतात्माको देखते ही सब लोगोंके डर जानेके कारण वह किसीको अपनी दुःखगाथा नहीं सुना सकी। अन्तमें एक धर्मप्राण सदाशय व्यक्तिके सामने प्रकट होकर उसने अपनी क्लेश-कहानी सुनायी। प्रेतात्माने कहा—'मैं बड़े भारी क्लेशमें हूँ; मुझे मानो सैकड़ों बिच्छू एक साथ काट रहे हों—ऐसी असह्य यातना मैं भोग रहा हूँ। दारुण प्यासके मारे मेरे प्राण छटपटाते रहते हैं; पर मुझको पीनेको जल नहीं दिया जाता, खून दिया जाता है। मेरे नामपर यदि कोई गयाजीमें पिण्ड दे दें तो मेरी यातना मिट सकती है।' उक्त सदाशय पुरुषने परलोकगत जज महोदयके नामसे गयाजीमें पिण्ड दिलवाये; पीछे पता लगा कि उनकी यातना शान्त हो गयी।

वे इस दुनियामें जस्टिस (न्यायमूर्ति—धर्मावतार) के नामसे प्रसिद्ध थे; परंतु यहाँ महामाननीय हाईकोर्टके न्यायमूर्ति होनेके कारण कोई परलोकमें नरकभोगसे बच जायगा, ऐसा मानना सर्वथा भ्रम है। समस्त न्यायके आधार सर्वनियन्ता मङ्गलमय भगवान्‌का अकाट्य विधान यहाँके प्रसिद्ध बड़े-छोटे, धनी-दरिद्र, पण्डित-मूर्ख, साधु-असाधु, पुण्यात्मा-पापी—सभीके प्रति यथायोग्य लागू होगा।

(३)

श्रीमत् कुलानन्द ब्रह्मचारी महोदयने श्रीश्रीसद्‌गुरुसङ्ग, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ९० में १२९७ बँगला संवत्‌की श्रावणकी डायरीमें महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामीकी निम्नलिखित उक्ति लिखी है "एक दिन कालीदहके पास यमुनाके किनारे पहुँचते ही एक प्रेत मेरे सामने आकर छटपटाने लगा। मैंने पूछा—'यों किस लिये कर रहे हैं?' उसने कहा—'प्रभु! बचाइये, बचाइये; अब यह क्लेश मुझसे सहा नहीं जाता। सैकड़ों-हजारों बिच्छू मुझे सदा काटते रहते हैं। यन्त्रणासे छटपटाता हुआ मैं दिन-रात दौड़ा करता हूँ। एक घड़ीके लिये भी मैं निस्तार नहीं पाता। आप मेरी रक्षा कीजिये।' मैंने उससे पूछा—'यह आपके किस पापका दण्ड है?' प्रेतने चिल्लाकर रोते हुए कहा—'प्रभु! यहाँ मैं···मन्दिरका पुजारी था। भगवान्‌की सेवाके लिये मुझे जो कुछ धनादि मिलता, उसे सेवामें न लगाकर मैं भोग-विलासमें उड़ा देता और बदमाशी करता। यही मेरा सबसे बड़ा अपराध है।' मैंने उससे पूछा—'आपके इस भोगकी शान्ति कैसे हो सकती है?' उसने कहा—'मेरा श्राद्ध नहीं हुआ। श्राद्ध होते ही मेरा यह क्लेश मिट जायगा। आप दया करके मेरे श्राद्धकी व्यवस्था करा दें।' मैंने फिर पूछा—'किस प्रकार व्यवस्था करें।' उसने कहा—'अपने श्राद्धके लिये मैंने १५००)—डेढ़ हजार रुपये अपने भतीजेको सौंपे थे, परंतु उसने अबतक मेरा श्राद्ध नहीं किया। आप दया करके उसके पाससे वे रुपये मँगवा लें। उनमेंसे कुछ भगवान्‌की सेवामें लगा दें और शेष रुपयोंसे मेरे कल्याणके लिये श्राद्ध करवा दें।'

"मैंने उस मन्दिरके पुजारीके पास जाकर उससे सारी बातें कहीं। फिर उस मृत पुजारीके भतीजेको सब बातें विस्तारपूर्वक बतलायी गयीं। उसने सोच लिया था कि इन रुपयोंको किसीको पता नहीं है, कौन पूछेगा। जो कुछ हो, उसने रुपये दे दिये और विधिपूर्वक श्राद्ध-महोत्सव हो गया। इस व्यवस्थासे प्रेतकी यन्त्रणा मिट गयी।"*

* ये तीनों घटनाएँ 'श्रीसुदर्शन' नामक त्रैमासिक पत्रके 'कः पन्थाः' शीर्षक लेखमें प्रकाशित हो चुकी हैं।

राम प्रेम मूरति तनु आही

(लेखक—पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय)

[पृष्ठ ११८४ से आगे]

प्रभुने महानाट्यका आयोजन कर डाला—'वनगमन' के रूपमें। इसे देवताओंने भले ही भूभार-हरणार्थ माना हो, पर वास्तविक बात तो कुछ दूसरी ही थी। 'वीक्षितमेतस्य महाप्रलयः।' 'भ्रकुटि बिलास सृष्टि लय होई' रावणवधके लिये ही वे वन जायँ, यह पूर्ण सत्य नहीं। तब फिर क्या कारण है? पूछिये हमारे पारखी भक्तशिरोमणिसे। वे कुछ विलक्षण रहस्य खोलना चाहते हैं—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥

श्रीभरतजीका प्रेम लोगोंसे अव्यक्त था। उस प्रेम-सुधाको वे छिपाये हुए थे। उसे प्रकट करना प्रभुको अभीष्ट था। यह पयोधि ऐसा नहीं, जो साधारण मन्थानसे मथा जा सके। तब 'विरह मंदर' की सृष्टि की गयी। निश्चितरूपसे यदि वन-गमनकी घटना न होती तो श्रीभरतजीके प्रेमको संसार नहीं जान पाता। और 'राम भगत अब अमिअ अघाहूँ' का आमन्त्रण भी न प्राप्त होता। तब एकके-बाद-एक दुर्घटनाओंका एक ताँता लग जाता है।

राज्याभिषेकका साज, कैकेयीकी कुबुद्धि, कुयाचना, प्रभुका वन-गमन और महाराजकी मृत्यु।

घटनाएँ बड़ी ही भयानक हैं। किसी भी हृदयको व्यथित करनेवाली। पर यह समुद्र-मन्थनकी भूमिका थी। इसके बिना अमृतकी प्राप्ति असम्भव थी।

महाराज श्रीदशरथके स्वर्ग-गमनके पश्चात् गुरुदेवके आज्ञानुसार दूत श्रीभरतजीको लेने गये। उन्हें आज्ञा थी 'केवल ले आनेकी', कोई और समाचार बताना निषिद्ध था। गुरु वशिष्ठकी आज्ञा सुनते ही श्रीगणेशका स्मरण कर वे अवधकी ओर प्रस्थान कर देते हैं। हृदयमें एक अज्ञात भय और व्यथा समायी हुई है। वायुवेग घोड़ोंपर बैठे श्रीअवधके निकट पहुँचते हैं।

आज नगर-प्रवेश पूर्व-जैसा न था। मार्गमें न तो क्षेमकरीने क्षेमकी सूचना दी, न श्यामाने अपने मधुर कण्ठसे स्वागत किया। कौएका कर्कश कण्ठ ही मानो भविष्यकी सूचना दे रहा था। और उसके कंठमें भी न केवल कठोरता थी, अपितु करुण चीत्कार था। नगरकी विशाल अट्टालिकाओंसे कीर्तन और सङ्गीतकी सुमधुर ध्वनि भी आज नहीं सुनायी पड़ रही थी। पर इसके विपरीत शृगाल और गर्दभका शब्द हृदयको प्रकम्पित कर रहा था। वे सुन्दर सरोवर, जहाँ नगरवासिनी ललनाओंकी भीड़ लगी रहती थी, जनशून्य हो रहे थे। सूर्योदय होनेपर भी कमल प्रफुल्लित नहीं थे। न थी वहाँ भ्रमरोंकी भीड़। आज जल भी तरङ्गायित होकर जनसमूहको अपनी ओर आमन्त्रित नहीं कर रहा था। म्लान चुपचाप पड़ा मानो यह इच्छा व्यक्त कर रहा था कि मुझे न छुओ, मुझे मौन रहने दो। आज सरयूको व्यथा हो गयी है। महाभाग्यवती सरयू ऐसी म्लान, उदास-सी क्यों पड़ी है? प्रभुके सुखद संस्पर्शका नित्य अनुभव पानेवालीकी यह दशा क्यों? पर उत्तर कौन दे। वृक्ष-पुष्प-फलके बोझसे झुके हुए नदीके जलका स्पर्श नहीं कर रहे हैं। पत्र-पुष्पविहीन मानो, बस, एक ही इच्छा व्यक्त कर रहे हैं—'हमें काटकर कोई जला दो। हममें सदाके लिये पतझड़ आ गया। हम इस भूमिमें नहीं रहना चाहते।' सारे सुन्दर उपवन मानो दावाग्निसे झुलस दिये गये हों। पर दावाग्नि भला यहाँ कैसे? यदि किसी प्रकार आग लग भी गयी तो बुझानेका तो समुचित प्रबन्ध हो सकता था। पर उन्हें कौन बताये कि यह वह दावाग्नि लगी है, जिसने न केवल वनोंके वृक्षोंको, अपितु पशु-पक्षी-मृगोंकी तो कथा क्या—सारे नगरवासियोंको जीवित होते हुए भी मृतवत् बना डाला है। वह दावाग्नि, जिसे बुझानेकी शक्ति प्रलयकालीन मेघोंमें भी नहीं है! आज पक्षी अपने सुमधुर कण्ठसे 'भजहु राम रघुपति जन पालक' का उपदेश आने-जानेवालोंको नहीं दे रहे हैं। राजमार्ग जनशून्य कैसे? यत्र-तत्र कोई दीखता भी है तो भूषणहीन, म्लान, आँसू बहाता हुआ। आज भैया भरतका स्वागत करनेके लिये जनसमूह उत्साहित होकर कोलाहल करता हुआ आगे नहीं बढ़ा। अट्टालिकाओंसे न तो युवतियोंने मङ्गलमय लाजा ही बरसाया! कुछ लोगोंने देखा, वे दूरसे ही प्रणाम करते हैं; पर उनके जुड़े हुए हाथ थर-थर काँप क्यों रहे हैं? धार्मिक पुरवासियोंसे ऐसी उपेक्षा और विधिहीनता? हे भगवन्! क्या हो गया इनको?

पूछनेका मन होता है, पर पूछें किससे ! कोई निकट आये, तब न । चर भी साथ हैं अवश्य, पर मुख दूसरी ओर हैं । पूछनेके लिये हाथ उठता है, मुख चरोंकी ओर करते हैं; पर कण्ठ भय और शोकसे रुँध जाता है । हृदय सुनना नहीं चाहता । धैर्यशाली दूत भी अपने दुःखको छिपा नहीं पा रहे हैं । दीर्घ निःश्वास बरबस ही निकल पड़ता है । मुख दूसरी ओर करनेपर भी आँखोंसे आँसू निकलकर भेदको व्यक्त करना चाहते हैं और तब वे आकाशकी ओर देखने लग जाते हैं । स्वेदबिन्दुओंको पोंछनेके मिस अपने उत्तरीयसे आँसुओंको पोंछ लेते हैं । श्रीभरतकी स्थिति दावाग्नि-भयभीत मृग-जैसी हो रही थी । वे शीघ्र-से-शीघ्र अपने मैयाके सुखद शीतल अङ्कमें छिप जानेको उत्सुक हो उठे और तब वे घोड़ोंको कैकेयी अम्बाके महलकी ओर तीव्र गतिसे ले चले ।

अवश्य ही पुरवासियोंमेंसे कुछने इसका दूसरा ही अर्थ लिया होगा । सङ्केत किया होगा—'कहा न था कि भरतकी सम्मति बिना यह नहीं हुआ; तभी न देखो, पिताजी या बड़ी अम्बाके भवनकी ओर पहले नहीं गये, यद्यपि उचित यही था ।' उस समय उनकी मान्यताक्रान्त बुद्धि प्रत्येक क्रियाका उसी पक्षमें अर्थ लगाये, यह स्वाभाविक है । पर वस्तुतः इसमें भरतजीका कैकेयी अम्बाके महलमें जानेका भाव बड़ा ही पवित्र ! उन्होंने सोचा कि छोटी अम्बाके निकट ही सबके दर्शन हो जायँगे । उन्हें ज्ञात था कि मैया रामभद्र अपनी छोटी अम्बासे इतना प्रेम करते हैं कि उनके भवनको छोड़ और कहीं हो नहीं सकते । फिर जहाँ राघवेन्द्र हों, वहीं पिताजी और कौसल्या अम्बाका होना स्वाभाविक है । 'साधन सिद्धि राम पग नेहू' को माननेवाले श्रीभरतकी प्रेममयी दृष्टि उन्हें ऐसा पथ दिखाये यह स्वाभाविक था; पर उस समय वास्तविकताको समझनेके लिये लोगोंको अवकाश कहाँ था । पुरवासियोंकी बुद्धिको तो राम-वियोग-कुरोगने छीन लिया था ।

द्वारपर लेने आयी कैकेयी । हृदयसे लगा लिया, पर भरतको लगा मानो वात्सल्यमयी अम्बा नहीं, किसी प्रस्तर-प्रतिमासे मिल रहे हों । कैकेयी उनको उदास देख अपने मातृगृहकी कुशलताके लिये चिन्तित होकर पूछती हैं—

पूँछति नैहर कुसरु हमारें ॥

शीघ्रतापूर्वक उत्तर देकर आश्चर्य और भयग्रस्त कण्ठसे श्रीभरतजीने पूछा—

कहु कहँ तात कहाँ सब माता । कहँ सियं राम लखन प्रिय भ्राता ॥

यह प्रश्न ही उनके कैकेयी अम्बाके भवनमें सर्वप्रथम आनेका कारण व्यक्त कर रहा है । उनका यह पूछना कि 'पिताजी कहाँ हैं ? और कहाँ हैं सब माताएँ ? फिर भला, भाभी श्रीसीता और भैया राम-लक्ष्मण भी तो नहीं दीख पड़ते !' इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें यहाँ प्रत्येकके दर्शन हो जानेकी आशा थी, पर वहाँ तो उत्तर मिलता है—

कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ । भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ ॥

इस वाक्यने हृदय और मस्तिष्कपर इतना भीषण आघात पहुँचाया कि वे यह पूछना ही भूल जाते हैं कि उसने वह कौन-सा 'काज सँवारा' है, जिसके सामने महाराजकी मृत्यु 'कछुक काज' हो गयी । 'हा पिता !' कह पृथ्वीपर गिर पड़े । 'हा पिता ! मैंने चलते समय तुम्हें न देखा । तुमने रामके हाथमें मुझे न सौंप दिया ! पर अचानक मृत्यु कैसे हो गयी ? यदि रुग्ण होते तो मुझे सूचना अवश्य देते ।' और तब वे पुनः पूछते हैं लौह-कठोर कैकेयीसे—

कहु पितु मरन हेतु महतारी ॥

इस समय कैकेयीका हृदय इतना विषाक्त था कि उसे विश्वास था कि सम्पूर्ण घटना सुन लेनेके पश्चात् भरतका दुःख नष्ट हो जायगा; अतः उसके द्वारा श्रीभरतजीके हृदयको संतप्त करनेवाला उत्तर ही प्राप्त हुआ—

आदिहु तें सब आपनि करनी । कुटिल कठोर मुदित मन बरनी ॥

सुनकर भरत स्तब्ध हो गये । सम्पूर्ण अङ्ग जडवत् हो गये । भूमितलमें गिरनेकी भी क्षमता न थी । प्रत्येक इन्द्रियने अपना कार्य बंद कर दिया । इसके बाद हम पुनः उस कठोरहृदयाको समझाते हुए देखते हैं । पिताजीकी मृत्युको सुनकर भूमिपर गिर जाने और इस बार चुप रह जानेका अर्थ उसने यही लगाया कि भरतको पिताकी मृत्युका ही दुःख हुआ । पर यह तो उसका भ्रम था । अत्यधिक आघात लगनेपर मनुष्य मृततुल्य हो जाता है । वह पीड़ा इतनी असह्य होती है कि संवेदनशील तन्तु ही कार्य करना बंद कर देते हैं । अवश्य ही हम चोट लगने और अत्यधिक चोट लगनेपर इस अन्तरको नित्य देख सकते हैं । जहाँ आघातमें मनुष्य चीखता-चिल्लाता है, वहाँ अत्यधिक आघातमें एक शब्द भी उसके मुखसे नहीं निकलता । कैकेयी उनके पितृ-शोकको शान्त करनेके लिये महाराजकी प्रशंसा करती हुई 'सहित समाज राज पुर करहू' की सम्मति देती है । आह ! कैसी बुद्धिकी विडम्बना है ! यह आघातपर आघात कितना निर्मम था । यह वाणी-लेखनीका विषय नहीं । महाकविने

एक उपमाके द्वारा इसे किञ्चित् व्यक्त करनेकी चेष्टा की है—

मनहुँ जरे पर लोनु लगावति ॥

जलनेपर कितनी पीड़ा होती है, यह तो भुक्तभोगी ही जानता है। पर उसपर नमक छिड़कनेकी कल्पना तो कितनी भयावह है, जिसे सोचकर ही हृदय काँप उठता है। और तब असह्य पीड़ासे उनके मुखसे निकल पड़ता है—

पापिनि सबहि भाँति कुल नासा ॥
जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही ॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति बारि उलीचा ॥

हंसबंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाइ।
जननी तूँ जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ ॥

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ। खंड खंड होइ हृदउ न गयऊ ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा। गरि न जीह मुहँ परेउ न कीरा ॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही। मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही ॥
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥
सरल सुसील धरम रत राऊ। सो किमि जानै तीय सुभाऊ ॥
अस को जीव जंतु जग माहीं। जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ॥
भे अति अहित रामु तेउ तोही। को तू अहसि सत्य कहु मोही ॥
जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई। आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥

यह श्रीभरत नहीं, उनके हृदयकी दुर्वह व्यथा और व्याकुलता बोल रही है। कुछ लोग श्रीभरतचरित्रके इस अंशको उनके निर्मल यशचन्द्रका धब्बा मानते हैं। मैं भी कहता हूँ वह श्यामता है अवश्य, पर यह श्यामता रामप्रेमकी है। इस श्यामतापर हम सौ-सौ शुभ्रचन्द्र निछावर करते हैं। इस श्यामताके विना तो यह यशचन्द्र भक्तोंके किसी कामका न होता। श्रीहनुमान्‌जीको चन्द्रमा बड़ा प्रिय लगा; पर इसलिये नहीं कि वह शुभ्र, शीतल है। उसमें तो उन्हें कुछ और ही दीखा—जिसे देखकर कुछ लोगोंको जहाँ उसमें भूमिकी छाया या राहुका पद-प्रहार दीखा, वहाँ उन्हें अपने श्याम राम दीखे और तभी उसको भक्तशिरोमणि जानकर उन्होंने कहा—

कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास ॥

मैं कहता हूँ—भरत इसे सुनकर चुप रह जाते, उनकी धार्मिकता व्यक्त हो जाती। यशचन्द्र शुभ्र रहता, पर वह रामप्रेमकी श्यामता? श्रीजनकजीको रोते देख किसीने कहा महाराजको मोह हो गया। जाननेवालोंने कहा—यह दूषण नहीं, भूषण है।

मोह मगन मति नहिं बिदेह की। महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥

इस प्रेम-पयोधिको तैरकर पार कर लेनेमें प्रशंसा नहीं यहाँ तो डूबना ही पार होना है—

अनबूड़े बूड़े तरे, जे बूड़े सब अंग।

तो मैं भी कहता हूँ—

क्रोध मगन मति नहि······महिमा सिय रघुबर सनेह की ॥

कोई भी प्रेमी ऐसी स्थितिमें शान्त न रहेगा। इस विशेष धर्मके सामने सामान्य धर्म नगण्य है।

एक बात और हमारे महाकवि कहते हैं—

पेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गँभीर।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ॥

विरह-मन्दरसे भरत-पयोधिका मन्थन हुआ अमृत प्रकट करनेके लिये। अमृत प्रकट होनेके पूर्व 'हलाहल' का प्रकट होना स्वाभाविक है। भले ही, वह विषकी ज्वाला काल-जैसी भयावनी प्रतीत हो रही हो; पर उससे कोई नष्ट नहीं हुआ। शङ्करजीने उसे पी लिया और वे नीलकण्ठ अमर हो गये। यह हलाहल प्रकट हुआ और पिया कैकेयी अम्बाने। वे ही इसको पान करनेवाली नीलकण्ठ शङ्कर हैं। श्रीशङ्करने पिया—'को कृपाल संकर सरिस' कहकर उनकी लोगोंने प्रशंसा की। कैकेयी अम्बाने पिया, लोगोंने उनके महत्त्वको नहीं पहचाना; पर सुजान प्रभुसे तो कुछ छिपा नहीं था। उन्होंने घोषणा की—

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई ॥

हाँ, कैकेयी अम्बाने अपने लाल रामका कार्य बनानेके लिये ही यह सब कुछ किया था। उसके बदले उन्होंने पाया चिर-अपयश, विधवपन और प्राणप्रिय पुत्रसे तिरस्कार! बलिहारी! हाँ तो, प्रभु ही भरत-पयोधिके मन्थनकर्ता थे। उन्होंने 'सुर साधु'को प्रेमामृत पिलाकर अमर किया और अपनी अम्बाको अमर कर दिया यह 'कालकूट' पिलाकर; उन्होंने 'एका क्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा' का बड़ा ही विलक्षण निर्वाह किया। हम इसमें एक ओर भरतका राम-प्रेम पाते हैं; प्रेमीके लिये लौकिक सम्बन्ध नहीं, उसके एकमात्र 'सब' राम ही हैं। तो दूसरी ओर, रामप्रेमी कैकेयीका महात्याग! सच्चे प्रेमीका आदर्श प्रेममार्ग अति कठिन है। वह फूल नहीं, शूलका मार्ग है। सम्भव है किन्हीं प्रेमियोंपर फूल बरसाये जाते हों, पर शूल-प्रहार भी हो सकता है; उसे सहन कर लेनेकी शक्तिवाला ही इसपर चल सकता है। निश्चित ही रामायणकालमें सर्वाधिक तिरस्कृत कैकेयी अम्बा थीं; पर प्रभुने कह

ही दिया—'जननी कैकेयीको वे ही दोष देते हैं, जिन्होंने सत्संगके द्वारा इसका रहस्य नहीं जान लिया है।'

कहा जा सकता है, तब फिर कैकेयीजीको कटुवचन कहनेवाले हमारे कवि तथा श्रीभरत आदि सभी जड हैं। और यह सत्य भी है। अत्यधिक प्रेममें आगे-पीछे सोचनेकी क्षमताका अभाव होता है। अपने प्रभुको कष्टमें डालनेवालेके हृद्गत भावोंपर दृष्टि डाले—इतना अवकाश प्रेमीको कहाँ। वह तो प्रत्यक्ष कारण देखता है और अधीर होकर कारण प्रतीत होनेवालेपर बरस पड़ता है। श्रीलक्ष्मणजीका चरित्र इसका साक्षी है। महाकवि, श्रीभरत, पुरवासी आवेशमें जो कहते हैं, वह तो प्रेमियोंका हृदय है। पर 'दोषु देहिं जननिहि जड़ तेई' तो हमलोगोंके लिये है। कहीं तटस्थ दृष्टिसे बादमें विचार करनेवाले भी कैकेयी अम्बाको ऐसा न मान लें, यही प्रभुका अभिप्राय है।

लिखते हुए प्रसङ्गसे कुछ दूर हट गया; पर जो कुछ वहाँ श्रीभरतने कहा, वह उनके अनुरूप ही था—एक प्रेमीके अनुरूप। 'वैसे हम उनके चरित्र' की यह विलक्षणता पाते हैं कि वहाँ धर्म और प्रेम एकरूप हो गये हैं—एकार्थक हो गये हैं। पर यहाँ जो अलगाव है, वह मार्गनिर्देशमात्र करना है। यदि प्रेमीके सामने ऐसी विकट परिस्थिति हो, जहाँ साधारण धर्म एवं विशेष धर्म (भगवत्प्रेम)-का एक साथ निर्वाह असम्भव हो जाय, वहाँ प्रेमीका मार्ग स्पष्ट है—राम-प्रेम।

पर उन कठोर वाक्योंको कहते-कहते अन्तमें हम देखते हैं वे प्रकृतिस्थ हो जाते हैं। उनकी धार्मिकता और प्रेम एकमेक हो जाते हैं। वे स्वयं ही सब दोष अपने ऊपर ले लेते हैं। 'सारा दोष मेरा ही है' अदोषदर्शी भरतके चरित्रका कैसा सुन्दर चित्रण इस दोहेमें व्यक्त होता है—

राम बिरोधी हृदय तें प्रगट कीन्ह बिधि मोहि।
मो समान को पातकी बादि कहउँ कछु तोहि॥

कैसा विलक्षण दैन्य है। उनकी यह विलक्षणता ऐसी है, जो निजी है, जो अन्यत्र मिलनी कठिन है और यही वैलक्षण्य उन्हें अन्योंसे ऊपर उठाकर प्रेमाचार्यका पद प्रदान करता है। वह अहङ्कार जो प्रभुसे दूर करता है, उसकी यहाँ पैठ नहीं। वह अहङ्कार, जिसने देवर्षि नारदको पकड़ लिया, जो श्रीभक्तराज हनुमान्‌के हृदयको भी स्पर्श कर सका, इन्हें छू न सका। इसीसे हम देखते हैं क्यों प्रभु इनका नाम-जप करते रहते हैं, क्यों इनका नाम उन्हें विह्वल बना देता है। तभी कहना पड़ता है—'भरत भरत सम जानि।'

इसके पश्चात् ही आती है कुटिलमणि मन्थरा वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर। श्रीशत्रुघ्नजी माताके कार्योंसे वैसे ही क्षुब्ध थे। सजी-धजी मन्थराको देखते ही उनकी क्षोभाग्नि भड़क उठती है। चरणप्रहारसे वे उसे भूमिपर गिरा देते हैं। मुँहसे रक्त निकलने लगता है। सिर फूट जाता है। निश्चितरूपसे उस कुटिलाके लिये यह दण्ड कम था। फिर जब उसने इतनेपर भी 'करत नीक फल अनइस पावा' कह दिया तो शत्रुघ्न पुनः उसे घसीटने लगते हैं। भला, लक्ष्मणानुजको कौन शान्त करे। पर 'दयानिधि भरत' छुड़ा देते हैं। यहाँ अन्तर स्पष्ट है। श्रीशत्रुघ्नके प्रेम और धर्ममें यहाँ विरोध हो जाता है और वे स्वभावतः ही प्रेमको प्राधान्य देते हैं। पर भरतका प्रेम और धर्म एकार्थक होकर मन्थराको छुड़वा देता है। वे 'दयानिधि' तो हैं ही; पर इससे भी अधिक ध्यान उन्हें इसका है कि प्रभुको इससे कष्ट होगा। उनकी प्रत्येक क्रियामें प्रभुकी इच्छाका ध्यान सर्वप्रथम रहता है। तभी हम उनके विषयमें पढ़ते हैं—

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥

(क्रमशः)

भजन बिना देह व्यर्थ है

भजन बिनु काहेकों देह धरी।
काम क्रोध मद लोभ मोहमें वृथा उमर गुजरी॥
ना हरिभक्ति न गुरुकी सेवा ना सत्संग करी।
नौ दस मास गर्भमें राख्यो जननी भार भरी॥
निसिदिन सोवत जागत विहरत कर ले हरी हरी।
सूरदास प्रभु तिहारे मिलनकी गुरु बिनु सूझ न परी॥

—सूरदासजी

मानस-नवाह्नके विश्राम

(लेखक—श्रीवासुदेवजी गोस्वामी)

श्रीरामचरितमानसका पाठ करनेवाले भगवद्भक्तोंकी पर्याप्त संख्या है ही तथा उसमें नित्यप्रति वृद्धि ही होती जाती है। इसका कारण इस वन्दनीय ग्रन्थमें मन्त्रोंकी शक्ति रखनेवाली वाणीका विद्यमान होना है। दैनिक पाठ करनेवाले अधिकांश सज्जन अपनी-अपनी रुचि, सुविधा तथा समयको दृष्टिमें रखकर व्यक्तिगतरूपसे क्रम निश्चित कर लेते हैं। कुछ भक्त मासिक अथवा त्रैमासिक पारायणके उन विश्रामोंके अनुसार भी पाठ करते हैं, जिनको 'कल्याण'के 'मानसाङ्क'में निर्धारित कर दिया गया है; परंतु ऐसे श्रद्धालु पुरुषोंकी संख्या बहुत ही अधिक है, जो वर्षमें दो बार नवरात्रमें श्रीमानसका पारायण किया करते हैं। किसी उद्देश्यविशेषसे सिद्धि प्राप्त करनेके हेतु उसके विधि-विधानपर सूक्ष्मरूपसे दृष्टि देनी पड़ेगी; किन्तु जहाँ भगवत्प्रीत्यर्थ ही सब कुछ करना है, वहाँ अपनी और अपने भगवान्‌की राजीके अनुसार ही विधान अपना रूप बदल लेता है। अपने प्यारे प्रभुकी प्रीतिके हेतु जो नवाह्नपारायण होता है, उसका फल तो प्रत्यक्ष ही तुरंत मिल जाता है। वह यह कि चैत्रमें पारायण किया कि भगवान्‌का जन्मोत्सव तुरंत प्राप्त हुआ और आश्विनमें पारायण किया कि राक्षसोंपर विजय पानेका उत्सव-समारोह मिला। अर्थात् भगवान्‌के प्रकट होने और उस प्राकट्यके उद्देश्यकी पूर्ति होनेके समयोत्सव तो हमें प्रत्यक्ष ही दिखायी देते हैं। परोक्षके लाभ तो भगवान् ही जानते होंगे। भक्तको जाननेसे ही क्या सरोकार। उसने तो उनकी प्रीतिके लिये ही सब कुछ किया है। उनको अर्पण कर दिया। उसका कर्तव्य तो पूरा हुआ।

नवाह्नपारायणके विश्रामोंपर दृष्टि देनेसे पता चलता है कि पाठका प्रतिदिनका भाग समान नहीं है। एक बार मेरे विचारमें मानसकी छन्द-संख्यामें ९ का भाग देकर जो लब्धि हो, उसके समकक्ष भागोंपर विश्राम नियत करनेका भाव उदय हुआ। उस समय मुझे स्वयं इन बातोंका पता न था, जो आगे प्रस्तुत लेखमें प्रकट की गयी हैं। मानसके प्रणेता प्रातःस्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजीने ही नवाह्नपारायणके इन्हीं स्थलोंका उपयोग किया था, जो आजकल प्रचलित हैं। मानसके नवाह्न-पारायणपर उन्हें स्वयं ही इतना विश्वास था कि उसके बलपर और प्रभुकी कृपाके आधारसे वे किसी भी कार्यको असंभव नहीं समझते थे। उनके शिष्य श्रीबेनीमाधव-दासने मूलगोसाईंचरितमें एक घटनाका उल्लेख किया है, जिसमें बताया गया है कि एक लड़कीको जन्मसे ही लड़केके वेषमें रक्खा गया था। उसके माता-पिताने उसका लड़का ही होना प्रसिद्ध कर रक्खा था। यह भावुकता इस हदतक पहुँची कि उसका विवाह भी एक लड़कीसे हो गया। इससे कुलमें अशान्ति और दुःखका उदय हुआ तथा कलह बढ़ गया। संवत् १६६९ के लगभग सौभाग्यसे श्रीगोस्वामीजी उस ग्रामसे होकर जा रहे थे। यह दुःख उनसे निवेदन किया गया और उससे मुक्त करानेके लिये उन्हींपर सब भार रख दिया गया। पड़ी हुई भँवरी तो खुल नहीं सकती थी। बस, यही उपाय था कि वह बालकप्रसिद्ध बालिका स्त्रीसे पुरुष हो जाय। इस हेतु श्रीगोस्वामीजीने मानसका नवाह्न-पारायण किया, जिसके प्रतापसे वह स्त्रीसे तुरंत ही पुरुष हो गया।

आज भी स्त्रीसे पुरुष तथा पुरुषसे स्त्री हो जानेके संवाद यदा-कदा समाचारपत्रोंमें प्रकाशित होते रहते हैं। यद्यपि इस ओर देशके प्रमुख विद्वान् तथा साहित्यिक संस्थाएँ भरसक प्रयत्न कर रहे हैं, फिर भी अभीतक श्रीगोस्वामीजीका ऐसा जीवनवृत्त ज्ञात नहीं हो सका है, जिसके आधारपर उनके सम्बन्धमें प्रचलित धारणाएँ अपना ठीक रूप पा सकें। इससे उक्त विषयपर और विस्तृत प्रकाश नहीं डाला जा सका।

'मूलगोशाईंचरित' से इस प्रसङ्गका उद्धरण नीचे दिया जाता है—

चरवारि के ठाकुर की दुहिता। जिसु सुन्दरता पै जग मुहिता॥
इक नारिहिं ते तिसु ब्याह भयो। जब जानेउ दारुन दाह भयो॥
वर की जननी जनमावत ही। सो प्रसिद्ध कियो तेहि पुत्र कही॥
अनुकूलहिं साज समान कियो। जे जानत भे तिहि पूजि दियो॥
यहि कारन घोषा भयो बहुतै। अब रोवत मीजत हाथ सबै॥
तिन घेर दया लगि संत हिये। तिसु हेतु नवाह्निक पाठ किये॥
विश्राम लगायो सो जानिय जू। तिसु सब्द प्रथम यह आनिय जू॥
हिय सत अरु कीन्ह रु स्यामलगा। ओ रामसैल पुनि हारि परा॥
१ २ ३ ४ ५ ६
कह मारुतसुत जहँ तहँ पुन्यं। इति पाउ नवाह्निक ठाम अयं॥
७ ८ ९

दोहा—नारी ते नर होइ गयो, करतहि पाठ बिराम।
पुलकित जय तुलसी कहै, जय जय सीताराम॥७८॥

श्रीगोस्वामीजीके ये दो दोहे भी उक्त घटनाका समर्थन करते हैं।

दोहा—कबहुँक दरसन संत के, पारस मनी अतीत ।
नारी पलट सो नर भयो, लेत प्रसादी सीत ॥
तुलसी रघुबर सेवतहिं, मिटि गो कालो काल ।
नारी पलट सो नर भयो, ऐसे दीनदयाल ॥

उक्त दोहोंमें 'लेत प्रसादी सीत' तथा 'रघुबर सेवतहिं' अंश इस बातको प्रकट करते हैं कि उक्त घटना धीरे-धीरे न होकर एकाएक हुई, जो बाबा बेनीमाधवदासके 'करतहिं पाठ विराम' के अनुकूल ही है।

'मूलगोसाईंचरित' का रचनाकाल इसी पुस्तकमें दी गयी तिथिके अनुसार गोस्वामीजीके साकेतवाससे सात वर्ष पश्चात् संवत् १६८७ है। इसके रचयिता बाबा बेनीमाधवदास ७१ वर्ष श्रीगोस्वामीजीके सम्पर्कमें रहे।

'मूलगोसाईंचरित'के उपर्युक्त पद्योंमें अधोरेखाङ्कित शब्द क्रमशः उन पद्योंके प्रारम्भ करनेवाले अंश हैं, जिनके पश्चात् ही नवाह्न पाठके विश्रामस्थल हैं। रेखाएँ तथा उनके नीचे अङ्क सुविधाके लिये डाल दिये गये हैं। सभी विश्राम दोहोंपर ही होते हैं, सिवा अन्तिम विश्रामके, जो मानसके पूर्ण पाठ कर लेनेपर ही होना स्वाभाविक है। वह श्लोक मानसपाठकी फलस्तुतिके रूपमें है; किंतु जो संकेत उक्त 'गोसाईंचरित'में विश्रामोंके लिये दिये गये हैं, वे इतने सूक्ष्म हैं कि कहीं-कहीं भ्रम भी पैदा कर सकते हैं। उदाहरणार्थ प्रथम विश्राम उस दोहेपर होता है जो 'हिय' से प्रारम्भ हो। 'हिय' से प्रारम्भ होनेवाला बालकाण्डमें एक यह भी दोहा है—

हिय हरषे मुनि बचन सुनि देखि प्रीति बिस्वास ।
चले भवानी नाय सिर गये हिमाचल पास ॥

किंतु इस दोहेपर कथाप्रसङ्ग समाप्त नहीं होता। अतः प्रथम विश्राम इससे आगे 'हिय'से प्रारम्भ होनेवाले दूसरे दोहेपर ही है। इसी प्रकार अन्य विश्राम भी हैं। अभीतक मेरी जानकारीमें जो रामायणें आयी हैं और जिनमें नवाह्नपाठके विश्राम दिये गये हैं, उनमें इस विषयपर मतभेद ही नहीं है। 'कल्याण'के 'मानसाङ्क' तथा गीताप्रेसके 'मानस'के गुटकोंमें दिये गये विश्राम उचित और उपयुक्त हैं। अब विश्रामस्थलोंके दोहोंको नीचे दिया जाता है।

बालकाण्ड

१. हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान ।
बहु बिधि उमहि प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान ॥
२. सतानंद पद बंदि प्रभु बैठे गुरु पहिं जाय ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक बुलाय ॥
३. कीन्ह सौच सब सहज सुचि सरित पुनीत नहाइ ।
प्रातक्रिया करि तात पहिं आए चारिउ भाइ ॥

अयोध्याकाण्ड

४. स्यामल गौर किसोर वर सुंदर सुखमा ऐन ।
सरद सर्बरी नाथ मुखु सरद सरोरुह नैन ॥
५. राम सैल सोभा निरखि भरत हृदय अति पेमु ।
तापस तप फलु पाइ जिमि सुखी सिराने नेमु ॥

अरण्यकाण्ड

६. हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति दिखाइ ।
तब असोक पादप तर राखिसि जतन कराइ ॥

लंकाकाण्ड

७. कह मारुतसुत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार निज दास ।
तव मूरत बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास ॥

उत्तरकाण्ड

८. जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रब्य मगाइ ।
हरष समेत बसिष्ट पद पुनि सिरु नायउ आइ ॥
९. पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं
मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम् ।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥

उक्त पद्योंका पाठ नागरीप्रचारिणी-सभा, काशीद्वारा प्रकाशित रामचरितमानससे लिया गया है। इस प्रकाशनमें दिये गये पाठ 'मूलगोसाईंचरित'में अङ्कित संकेतोंके पूर्णतया अनुरूप हैं। गीताप्रेससे प्रकाशित मानसके विश्रामस्थलोंपर दिये गये प्रथम तथा सप्तम विश्रामपर नाममात्रका अन्तर है। पिङ्गलकी दृष्टिसे सातवें विश्रामका दोहेका प्रथम चरण 'कह मारुतसुत सुनहु प्रभु' पाठ गीताप्रेसके मानसके 'कह हनुमंत सुनहु प्रभु'से अपेक्षाकृत उपयुक्त है; किंतु मानसके पाठभेद इतने अधिक संख्यामें हैं कि उनके कारण वास्तविकतामें भी कहीं-कहीं भ्रम हो जाता है। उक्त पाठभेद होनेपर भी अर्थमें अन्तर नहीं पड़ता। अधिकांश पाठभेद हैं भी ऐसे ही। अस्तु! आशा है उपर्युक्त कथनमें विश्रामस्थलोंकी ऐतिहासिकता तथा उनके सिद्ध प्रयोग होनेका महत्त्व प्रेमी पाठकोंको आनन्द प्रदानकर उनमें मानसपाठके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करेगा। जय जय सीताराम!

कामके पत्र

(१)

अपने दोषोंसे ही दुःख होता है

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका पत्र मिला । आपने जो कुछ लिखा है, उससे यह विदित होता है कि आपके प्रति उन लोगोंका बर्ताव अच्छा नहीं है। इसीसे आपको क्रोध होता है और आपका चित्त अशान्त रहता है; परंतु आपके शब्दोंसे यह भी सिद्ध होता है कि आप उनके सुखसे दुखी रहते हैं। उन लोगोंके प्रति आप घृणा रखते हैं और क्रोधका तो आप किसी भी समय त्याग नहीं कर पाते। मेरी समझसे आपके अपार दुःखमें जितना उनका दुर्व्यवहार कारण है, उससे अधिक कारण हैं आपके मनमें बसनेवाले ये आपके दोष ही । महात्मा श्रीविदुरजीने कहा है—

ईर्षुर्घृणी न सन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः॥
(महा० उद्योग० ३३ । ९०)

'जो ईर्ष्या करते हैं (दूसरेकी उन्नति या सुख देखकर जलते हैं), घृणा करते हैं (सभीमें दोष देखकर उनको बुरा समझते हैं), असन्तुष्ट हैं (किसी भी स्थितिमें सन्तोष नहीं करते), क्रोधी स्वभावके हैं, सदा शङ्कित रहते हैं (सब ओर सन्देहकी दृष्टिसे देखते हुए डरते रहते हैं) और दूसरेके भाग्यपर जीवन-निर्वाह करते हैं, ये छहों सदा दुखी रहते हैं।'

मेरे एक परिचित सज्जन हैं, वे सदा उदास रहते हैं। उनमें भी यही दोष है कि वे सदा असन्तोषकी आगमें जला करते हैं, सदा सशङ्कित रहते हैं और स्वावलम्बी नहीं बनना चाहते। मैं उन्हें समझाया भी करता हूँ; पर उनकी समझमें बात आती नहीं और फलतः उनका दुःख भी नहीं मिटता।

मनुष्य बहुधा अपने ही दोषोंसे दुखी होता है। अपने मनकी दूषित दृष्टि दूसरोंमें दोषारोपण करके उन्हें दोषी देखती है और परिणाममें घृणा, द्वेष और भी बढ़ जाते हैं, जिनसे अपना ही दुःख बढ़ता है। याद रखना चाहिये, जब हमारे मनमें किसीके प्रति द्वेष और क्रोध उत्पन्न होता है तो उसी समय हम जलने लगते हैं। वह तो तब जलता है, जब हमारे मनके इन दोषों-की कोई क्रिया बाहर प्रकट होती है।

आप अपने मनमें गहराईसे देखिये। अवश्य ही आपको ये दोष दिखायी देंगे। उन लोगोंके बुरे बर्ताव-के इलाज करनेकी चिन्ता छोड़कर पहले अपने इन मानस रोगोंको दूर भगानेका प्रयत्न कीजिये। जब आपके ये रोग नष्ट हो जायँगे, तब आपको उन लोगोंके दुर्व्यवहारमें अपने-आप ही कमी प्रतीत होने लगेगी। क्योंकि अभी तो आप द्वेष या क्रोधका चश्मा चढ़ाकर उनको देखते हैं, इससे आपकी दृष्टि यथार्थ नहीं है; फिर आपकी दृष्टि यथार्थ हो जायगी। उस समय जो जैसा है, ठीक वैसा ही आपको दिखायी देगा। इसलिये स्वाभाविक ही उनके दोष कम दीखेंगे। फिर उनके रहे-सहे दोष आपके सद्व्यवहारसे दूर हो जायँगे। दूसरेके दुर्व्यवहारका नाश करनेका उपाय बदलेमें सद्व्यवहार करना है, दुर्व्यवहार करना नहीं। किसी दूसरेमें तो दोष है ही, तभी वह दुर्व्यवहार करता है; हम यदि बदलेमें दुर्व्यवहार करेंगे तो हमारेमें भी वही दोष आ जायगा। इससे हमारी हानि ही होगी। और यदि हम अपने दुर्व्यवहारको दोष नहीं समझते तो फिर उसके दुर्व्यवहारको दोष समझनेका क्या अधिकार है। दोष समझते हैं, इसीलिये उसे दूर करना चाहते हैं। पर दूसरेका दोष तो दूर करना चाहें और उसे दूर करने जाकर अपने उसी दोषको ग्रहण कर लें, यह कहाँकी बुद्धिमानी है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि वह पहले अपने दोषोंको

बारीकीसे देखे और उन्हें दूर करनेका पूर्ण प्रयत्न करे। इसीमें उसका और जगत्का कल्याण है।

(२)

विना नामके पत्र

आपका पत्र मिला। आपके लिखनेका सार यह है कि "कल्याण अङ्क ९ के पृष्ठ १२७४ में 'कामके पत्र' शीर्षकमें जिस पत्रका उत्तर दिया गया है, उसमें उल्लिखित व्यक्तिके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है, वह ठीक नहीं है। वे बहुत शिष्ट पुरुष हैं और अपना अधिकांश समय प्रेमपूर्वक भगवान्का भजन करनेमें लगाते हैं। यह सत्य है कि उनकी विवाह करनेकी इच्छा नहीं थी, पर उन्होंने गुरुजनोंकी आज्ञा तथा आग्रहसे ही विवाह किया था। परंतु पत्नीके प्रति उनकी कोई भी घृणा या नाराजी नहीं है। वे उसे भगवान्की दी हुई वस्तु समझते हैं इत्यादि।" पहले पत्रमें लेखकका नाम नहीं था। विना नामके पत्रोंका उत्तर प्रायः नहीं दिया जाता। परंतु उस पत्रमें एक निरपराधा स्त्रीके प्रति दुर्व्यवहारकी बात थी, इससे उत्तर प्रकाशित कर दिया गया था। वह बात सत्य थी या नहीं, इसके जाननेका हमारे पास कोई साधन नहीं था; क्योंकि पत्रमें पूरा पता नहीं था। अब आपने जो पत्र लिखा है, यह भी विना नामका ही है। हम कैसे परीक्षा करके निर्णय करें कि आपके इस पत्रकी बात ठीक है या पहले पत्रकी। परंतु यदि पहला पत्र ठीक न हो और वे सज्जन अपनी पत्नीके साथ सद्व्यवहार करते हों तो बड़े ही आनन्दकी बात है। हम भी यही चाहते हैं। भविष्यमें विना नामके पत्रोंका उत्तर प्रायः नहीं दिया जायगा। पत्र लिखनेवाले सज्जनोंको अपना नाम-पता पूरा लिखना चाहिये। किसी पत्रको कोई गुप्त रखना चाहेंगे तो उसे गुप्त रक्खा जायगा। अब भी ऐसे पत्र आते हैं, जिनमें नाम-पते होते हैं और उनका उत्तर दे दिया जाता है; पर कहीं भी नाम प्रकट नहीं किया जाता।

(३)

संयुक्त परिवारमें लाभ है

आपका पत्र मिला। आपके प्रेमभरे परिवारको कुछ लोग नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते हैं, यह दुःखकी बात है। आप दोनों भाइयोंका परस्पर बड़ा प्रेम है और आपलोग रामायण-पाठ तथा श्रीठाकुरजीकी पूजा किया करते हैं, सो बड़े ही आनन्दका विषय है। आपमेंसे छोटे भाईके पुत्र लोगोंके बहकावेमें आकर अनाचार कर रहे हैं, परिवारको हानि पहुँचाते हैं और अलग होना चाहते हैं—यह उनकी भूल है। उनको प्रेमसे समझानेकी कोशिश कीजिये। समझ जायँ तो अच्छी बात है। नहीं तो उन्हें अलग कर दीजिये। जो साथ नहीं रहना चाहेंगे, उन्हें जबरदस्ती आप कैसे रक्खेंगे। भगवान्से प्रार्थना कीजिये कि वे उनको सद्बुद्धि दें। शोभा, सुन्दरता और लाभ तो परिवारके संयुक्त बने रहनेमें भी हैं। पर यदि किसी प्रकार भी यह सम्भव न हो तो नित्यका दुःख मिटानेके लिये अलग कर देना ही श्रेयस्कर है। उन भाईसे भी हमारा अनुरोध है, वे शान्तिपूर्वक सारी स्थितिपर विचार करें। यदि उन्हें किसी बातसे असन्तोष हो तो उसे प्रकट करके शान्ति तथा प्रेमके साथ उसका निराकरण करा लें। अलग होनेमें तो हानि ही है।

(४)

सर्वोत्तम हिंदू-संस्कृति

सप्रेम हरिस्मरण! कृपापत्र मिला। धन्यवाद। आपका यह लिखना ठीक है कि आज अपना देश स्वतन्त्रता मिल जानेके बाद भी पाश्चात्य विचारधाराका गुलाम बना हुआ है। रहन-सहन, वेश-भूषा, भाषा, विचार-पद्धति और शासनप्रणाली आदि सभी दृष्टियोंसे हम पूर्णतः पाश्चात्य संस्कारोंसे आक्रान्त हैं।

सदियोंकी परतन्त्रता और विधर्मियोंके अत्याचारसे पराभूत होकर हममेंसे कुछ अग्रणी पुरुषोंने भी आत्म-

विश्वास खो दिया है। हमारे धर्म, हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता और हमारी विचारधारामें क्या अच्छाई है, यह देखनेकी भी इच्छा उन लोगोंमें नहीं रह गयी है। शिक्षा-दीक्षा ऐसी मिली, जिससे भारतीय शरीरमें अभारतीय मनका निर्माण हो गया। हृदय बदला, दृष्टि बदली। फिर कुछ-का-कुछ दिखायी देने लगा। अपनी अच्छाईमें भी बुराई नजर आयी और दूसरोंकी बुराईमें भी अच्छाई दिखायी देने लगी। यह विपरीत दृष्टि ही दुःख और अशान्तिकी जननी है। आज सारा भारत दुखी है, चिन्तित है और अशान्त है केवल इस विपरीत दृष्टिके ही कारण।

हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि हमारी प्राचीन संस्कृति ही संसारके लिये कल्याणकारक है। आज सबको हाय-हाय लगी है। घर-घर व्यक्ति-व्यक्ति चिन्तित है। सबको अपनी-अपनी चिन्ता है। सब अपना पेट भरना चाहते हैं। सबको अपना तन ढकनेकी चिन्ता है। दूसरा कैसे है, वह सुखी होगा या नहीं—इस ओर किसीका ध्यान नहीं है। साम्यवादियोंका नारा है—'आज माँगता हिंदुस्थान। रोटी, कपड़ा और मकान।' आश्चर्य है इस स्थितिपर। भारतवर्ष इस प्रकार याचक तो कभी नहीं हुआ था। भारतवर्ष सदाका दानी रहा है। आज यह दैन्य, यह याचक-मनोवृत्ति उसमें कैसे पैदा हुई? यही तो आजके युगकी देन है।

जहाँ स्वार्थ है, लोभ है, वहाँ सुख नहीं रह सकता। वहाँ सदा हाहाकार ही बना रहेगा। जहाँ त्याग है, वहीं सुख है, शान्ति है। आज साम्यवादके नारे लोगोंमें स्वार्थमूलक प्रवृत्तिको प्रोत्साहन दे रहे हैं। काम कम करो और वेतन अधिक लो, यह भावना बढ़ रही है। जब उत्पादन और आयमें ही कमी होगी, तब वेतन कहाँसे बढ़ेगा? जो है, वह भी रह जायगा—इसीमें संदेह है। मेरा ही पेट भरे, यह भावना किसीके पेटको भरने नहीं देती। भूख और पेट दोनों बढ़ते जाते हैं। इसीके लिये वर्ग-संघर्ष होते हैं। लूट, खसोट, हिंसा—सभी उपाय काममें लाये जाते हैं। निर्माण नहीं होता, परंतु विध्वंसके कार्य बराबर हो रहे हैं। क्या यही सुख और शान्तिका उपाय है? दूसरेका घर लूटकर हम कबतक अपना पेट भर सकते हैं। जमींदारी प्रथा और पूँजीवादी प्रथामें यदि दोष आ गये हैं तो उन दोषोंका सुधार हो सकता है। ये प्रथाएँ तोड़ देनेमें ही लाभ दीखता हो तो तोड़ भी दी जायँ। इनके रखनेमें अपना कोई आग्रह नहीं है। आज जो जमींदारी और पूँजीवादी नीति है, यह प्राचीन भारतीय संस्कृतिके आदर्शसे बहुत नीचे गिर चुकी है। तथापि इन प्रथाओंके नाशसे ही सारी समस्या हल नहीं होगी। सबको वस्त्र मिले, सबको सुख-सुविधा और ज्ञान-वृद्धिके साधन प्राप्त हों; यह होनेपर ही आर्थिक दशाका सुधार माना जायगा।

नारा लगा देनेसे ही कोई मनचाही वस्तु सदा नहीं मिलती रहती। उसके लिये प्रयत्न आवश्यक होता है। उचित श्रमसे ही समुचित फलकी प्राप्ति होती है। आजकी नीति ऐसी है कि वोटके बलपर सभी शासनमें अधिकार प्राप्त करना चाहते हैं। इस कंपिटीशनमें भिन्न-भिन्न पार्टी संगठित करके सब एक दूसरेसे लड़ते हैं। जहाँ स्वार्थके लिये सदा संघर्ष चलता रहेगा, वहाँ सुख स्वप्नके समान है। मजदूर और किसान—ये ही तो भारतके प्रधान निवासी हैं। ये उत्पादन बढ़ाकर सभी वस्तुएँ सर्वसाधारणके लिये अधिक-से-अधिक सुलभ कर सकें, तभी अन्न-वस्त्र आदिकी वर्तमान समस्या सुलझ सकती है। जहाँ स्वार्थकी भावना काम करती हो, वहाँ ऐसी सद्बुद्धि कैसे जगेगी?

साम्यवाद सबको सुख पहुँचाना चाहता है; पर इसके लिये जिस प्रवृत्ति और भावनाको वह प्रोत्साहन देता है, वह सबको दुःखमें ही डालनेवाली है।

अब 'भारतीय संस्कृति'के साम्यवादपर दृष्टिपात कीजिये।

संसारके सभी प्राणी, न केवल मानव ही, भगवान्के चिन्मय अंश हैं। ये जड और चेतन सभी भगवान्के स्वरूप हैं, इस सत्यका साक्षात्कार करके सभी मनुष्य जगत्के समस्त जड-चेतनको शीश झुकायें और सुख पहुँचानेकी चेष्टा करें। यह भारतीय आदर्श है। दूसरे लोग अधिक-से-अधिक बन्धु अथवा मित्रकी भावनातक जाते हैं। कुछ लोग आत्मभावका समर्थन करते हैं केवल मानव-मानवके लिये। परंतु विश्वके समस्त जड-चेतन अपने आराध्य देव हैं, इस सद्भावनाका केवल हिंदू-धर्म संदेश देता है। इस अवस्थामें पहुँचकर हमारा सबके साथ राग-द्वेष, वैर-विरोध मिट जाता है—

निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध ॥

इससे बढ़कर साम्यदृष्टि और क्या हो सकती है। इसी उद्देश्यसे हिंदू-शास्त्र प्रत्येक गृहस्थको बलिवैश्वदेव यज्ञका आदेश देते हैं। बलिवैश्वदेव वह यज्ञ है, जिसमें सम्पूर्ण विश्वको तृप्त करनेकी भावनासे हम अन्न और जलका त्याग करते हैं। उसमें देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, ऋषियज्ञ और मनुष्ययज्ञ—ये पाँच प्रकारके यज्ञ हैं। मनुष्ययज्ञको ही अतिथियज्ञ कहते हैं। यज्ञका अर्थ है परोपकार। दूसरोंके हितकी दृष्टिसे हम जो कुछ भी करते हैं, वह सब यज्ञ है। यज्ञ त्यागकी आधारशिलापर ही सुप्रतिष्ठित है। यह यज्ञ भी भगवान्का ही स्वरूप है। इस प्रकार यज्ञरूपी क्रियामें भी हिंदू-धर्म भगवद्दृष्टि सिखाता है।

हिंदू-धर्म बतलाता है—यज्ञ-शेष अन्न अमृत है, इसके भोजनसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। सबको देकर पीछे तुम खाओ। दूसरोंकी प्यास बुझाकर स्वयं पानी पीओ। दूसरोंको रहनेके लिये स्थान और आसन देकर स्वयं अपनी चिन्ता करो। तात्पर्य यह कि सदा दूसरोंको सुखी बनानेकी चेष्टा करो। जो स्वार्थी है, जो केवल अपने पेटकी चिन्ता करता है और अपने लिये भोजन बनाता—कमाता खाता है, वह पापका भागी होता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

दूसरोंको देकर भी यह अभिमान मत रक्खो कि तुम उनका उपकार करते हो। तुम तो उनकी ही वस्तु उन्हें दे रहे हो। वह सब तुमसे पानेका उन्हें अधिकार है। यदि तुम नहीं देते हो तो चोर हो—'स्तेन एव सः'। दूसरोंका हक पचानेका दुःसाहस करनेवाले वे मनुष्य सारी आयु पापका ही अर्जन करते हैं, उनका जीवन व्यर्थ है—

अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

इसी भावनासे अनुप्राणित होकर भारतीय गृहस्थ अतिथिसेवाके लिये सदा उत्सुक रहते थे। वे प्रतिदिन दोपहरतक अतिथिकी बाट जोहते थे। कोई मेरे घरपर आ जाय, मैं भोजन आदिके द्वारा उसकी सेवा करके तब स्वयं अन्न ग्रहण करूँगा। श्रुतिके शब्दोंमें यही भावना इस प्रकार व्यक्त की गयी है—

बहु देयं च नोऽस्तु। अतिथींश्च लभेमहि याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिष्म कञ्चन।

'मेरे पास देनेके लिये बहुत सामान हो। मैं सदा बहुतसे अतिथियोंकी सेवाका अवसर पाऊँ। मेरे पास माँगनेवाले आयें, किंतु मैं कहीं न माँगूँ।'

इस प्रकार प्रार्थना की जाती थी। जब सभी एक दूसरेको देना चाहेंगे, सभी सबको सुखी बनानेकी इच्छा रक्खेंगे, तो कौन दुखी रहेगा?

सम्पूर्ण मानव-समाजको सुखी बनानेकी इच्छासे ही भगवान्द्वारा वर्णाश्रम-व्यवस्थाका निर्माण हुआ है। चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं। ब्राह्मण अपनी जीविकाका भार दूसरोंपर न डालकर फल-मूल आदिसे ही निर्वाह करता था, परंतु त्याग-तपस्याद्वारा ऐसे सद्ज्ञानका अर्जन करता था, जिसके द्वारा समस्त मानव-समाजके कल्याणमार्गका दर्शन हो सके। ऋषि-

महर्षियोंने आजीवन तपस्या करके समाजहितके विधान ही तैयार किये। जो सत्य और सनातन हैं, उन आदेशोंपर चलनेवाला कभी दुखी नहीं हो सकता। क्षत्रियसमाजको रक्षक बनाया गया। उसकी परम्पराने समाजको भयसे बचानेका ही व्रत लिया। इसी तरहकी उन्हें शिक्षा-दीक्षा मिली और जाति-परम्परासे उसमें पौरुषका ही अधिक विकास हुआ।

वैश्यने कृषि, गोरक्षा और वाणिज्यके द्वारा सम्पूर्ण समाजके लिये अन्न और धनका संग्रह किया तथा शूद्रने शिल्पकलाके द्वारा समाजकी सेवा अपनायी। ये सभी कर्म उन्हींकी परम्परामें प्रचलित और विकसित होते रहे। एक दूसरेने परस्परके कर्मको छीनने या अपनानेका प्रयास नहीं किया।

वैश्यने यज्ञद्वारा दक्षिणाके रूपमें ब्राह्मणको अन्न पहुँचाया। रक्षाका कर देकर क्षत्रियको अन्न-धनसे सम्पन्न बनाया और शूद्रको उसके शिल्पका मूल्य देकर उसकी भी जीविका चलायी। इस प्रकार चारों वर्णोंका जीवन सम्पूर्ण समाजके हितके लिये ही रहा। सब अपने वर्ण और कर्मकी शुद्धिके लिये यत्नशील थे, अतः वर्णसङ्करता एवं कर्मसङ्करता उनमें नहीं आने पाती थी। इसीलिये उनमें न छोटे-बड़ेकी भावना थी, न वर्ग-संघर्ष था।

शासनप्रणालीमें राजतन्त्रको ही महत्त्व दिया गया, जिसका सुविकसित रूप राम-राज्य है—जहाँ इतनी अच्छी व्यवस्था थी कि कभी अकाल नहीं पड़ता था, खेती नहीं मारी जाती थी। वृक्षोंके फूल और फल अधिक होते थे। गायें खूब दूध देती थीं। किसीको रोग नहीं, व्याधि नहीं। सब पूरी आयुतक जीवित रहते थे। उस राज्यमें कोई स्त्री विधवा नहीं। कोई अनाथ नहीं। सारा राष्ट्र एक कुटुम्ब था। राजा केवल घरके मालिक, ट्रस्टी या पंचकी भाँति व्यवस्थापकमात्र था। राजा प्रजाकी सारी चिन्ताको दूर करनेका प्रयास करता और प्रजा राजाके बलको बढ़ाती थी। मानो सभी एक पिताके पुत्र हों। राजा राज्यके संरक्षणकी शिक्षा पाता और प्रजा अपने उद्योग एवं अपने व्यवसायमें पटुता प्राप्त करती। सभी सुखी थे। सभी उन्नतिशील थे। शासनमें सुयोग्य व्यक्ति ले लिये जाते थे। कोई होड़ नहीं, कोई चुनावकी लड़ाई नहीं। शासन प्रजाके समर्थनपर ही टिक पाता था। प्रजाकी इच्छाके सामने राजा इतना नतमस्तक था कि अपने पिता, पुत्र, भाई अथवा पत्नीको भी त्याग देनेमें आनाकानी नहीं कर सकता था।

आजके साम्यवाद और समाजवाद जिन उद्देश्यों अथवा सुखोंको लानेका प्रयास कर रहे हैं, उनमेंसे कौन-सा सुख या उद्देश्य प्राचीन संस्कृतिद्वारा सिद्ध नहीं होता? उलटे आजके साम्यवादमें जो राग-द्वेष, संघर्ष और हिंसा आदि दोष हैं, वे प्राचीन हिंदू-संस्कृतिमें देखनेको नहीं मिलेंगे।

आदर्शका पालन नहीं होनेसे समाजमें बुराइयाँ आती हैं। प्राचीन हिंदू-संस्कृतिकी अवहेलनासे ही समाजमें नाना प्रकारके दोष आ गये। वे दोष प्राचीन व्यवस्थाकी देन नहीं, हमारी अपनी उपेक्षा और अकर्मण्यतासे ही आये हैं। आजका साम्यवाद भी एक आदर्श है। पर इसका आदर्श स्वरूप भी वैसा शुद्ध नहीं है, जैसा हमारी हिंदू-संस्कृतिके साम्यवादका है। हमारा धर्म धारणात्मक है, ध्वंसात्मक नहीं। धारण नाम है रक्षाका। यदि संसारकी रक्षा अभीष्ट है तो हिंदू-धर्मका ही आश्रय लेना चाहिये। जिससे लोक-परलोक दोनोंकी उन्नति हो, वही धर्मका आदर्श रूप है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।' हमारे हिंदू-धर्मके सभी सिद्धान्त इसी तुलापर तौलकर निश्चित किये गये हैं। अतः इन्हींसे जगत्‌में शान्ति, सुव्यवस्था एवं कल्याणकी प्राप्ति सम्भव है।

संसार जानता है, इतिहास साक्षी है, हिंदुओंने

कभी स्वार्थ या लोभवश किन्हीं अन्यधर्मावलम्बियोंपर आक्रमण नहीं किया। क्योंकि ये सबमें आत्मदृष्टि रखते हैं। जब इनके ही धर्म और संस्कृतिको कुचलनेका कभी प्रयास हुआ, तभी इन्होंने विपक्षीका सामना करनेके लिये शस्त्र ग्रहण किया। हिंदू मानते हैं, आत्मा अजर-अमर है। अतः वे मौतसे नहीं डरते। शरीरके त्यागसे उन्हें कष्ट नहीं होता। क्योंकि वह रहनेवाला नहीं है। इसलिये हिंदूका शौर्य कभी लुप्त नहीं होता। विपक्षीकी ललकारका वे स्वागत करते हैं। उनके सामने युद्ध स्वतः उपस्थित हो जाय तो वे उत्सव मनाते हैं। वे धर्मके लिये किसीको भी मारते नहीं। परंतु धर्मरक्षाके लिये स्वयं मरना अपने लिये कल्याणकर समझते हैं—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' संसारमें ऐसी कोई संस्कृति नहीं, जो हिंदू-संस्कृतिसे श्रेष्ठ मानी जा सके। शेष प्रभुकृपा।

(५)

श्रीभगवान् ही गुरु हैं—भगवन्नामकी महिमा

प्रिय बहिन! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपने दीक्षा नहीं ली सो कोई हर्ज नहीं। दीक्षाकी कोई आवश्यकता नहीं है। आप जगद्गुरु भगवान् श्रीराम या भगवान् श्रीकृष्णको ही अपना परम गुरु मानिये और रामचरितमानस या गीताका पाठ शुरू कीजिये। रामायण और गीता भगवान्‌के मन्त्र हैं। बिना दीक्षाके किसीको पानी देना पाप है—इन सब बातोंको बिल्कुल मत मानिये। आजकल गुरुओंकी भरमार है। किसीसे कान फुँकवा लेनेसे ही कुछ नहीं होता। मनुष्यका वास्तविक कल्याण तो साधन-भजनसे ही होता है। परमार्थी गुरु भी परम कल्याण करते हैं। पर वैसे गुरुका मिलना बहुत दुर्लभ है। फिर स्त्रियोंको तो गुरुकी कोई आवश्यकता नहीं है, न विधान ही है। सधवाके लिये उसका पति ही गुरु है और विधवाके लिये परम पति भगवान् परम गुरु हैं। आजकल देखा जाता है बहुत-सी भोली स्त्रियाँ गुरुओंके फेरमें पड़कर घर-परिवारमें एक भयङ्कर अशान्ति और कलहका वातावरण उत्पन्न कर देती हैं और शास्त्रविरुद्ध आचरण करके अपना भी पतन करती हैं।

आपने लिखा—'मैं अपने पूज्यजनोंकी सेवा करना धर्म समझती हूँ पर किन्हींसे दीक्षा लेना या उनकी जूँठन खाना अथवा एकान्तमें सेवा करना अपने स्वभावसे निन्दनीय समझती हूँ।' सो बहुत ही उचित है। किसीकी भी जूँठन नहीं खानी चाहिये और एकान्तमें परपुरुषसे मिलनेको तो महान् पातक एवं दुराचारका कारण मानकर उससे सर्वथा दूर रहना चाहिये। जो गुरु परस्त्रीसे एकान्तमें सेवा कराना चाहते हैं, उनपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। घरके पूज्यजनोंकी सेवा भी बड़ी सावधानीसे करनी चाहिये। पुरुष-जाति आजकल बहुत ही हीनचरित्र हो गयी है। उससे सावधान रहनेमें ही लाभ है।

आप श्रीरामचरितमानसका पाठ करती हैं सो बड़ी अच्छी बात है। मालापर नामजपसे डरनेकी क्या आवश्यकता है? ज्यादा नाम लेनेका अभिमान हो जायगा, इस डरसे जप न करना तो भूलकी बात है। नामजप करनेसे चित्तके दुर्गुणोंका नाश होता है और सद्गुण अपने-आप आते हैं। अभिमानसे जरूर बचना चाहिये, पर भजनसे कभी नहीं हटना चाहिये। भगवान्‌के नामकी शक्तिपर विश्वास करके यह निश्चय करना चाहिये कि नाम-जपसे मेरे मनमें अभिमान आदि दोष कभी उत्पन्न नहीं हो सकते, वरं मेरे मनमें जो पहलेके दोष हैं, उन सबका भी नाश हो जायगा। नामका बड़ा प्रभाव है। भगवन्नामसे सारे पाप-ताप सहज ही नष्ट हो जाते हैं और श्रद्धापूर्वक नाम लेनेपर तो असम्भव भी सम्भव एवं अमङ्गल भी मङ्गलरूप बन जाते हैं।

शिवपुराणमें कहा है—

अग्निश्च शीततां यातो जलं च स्थलतां गतम्।
स्थलं च जलतां यातं विषं चामृततां गतम्॥
शस्त्राणि पुष्पभावं च हरेर्नाम्नश्च कीर्तनात्।
(विश्वेश्वरसंहिता १०। ३६)

'श्रीहरिनामकीर्तनसे अग्नि शीतल हो जाती है, जल स्थलरूपको प्राप्त हो जाता है, स्थल जल बन जाता है, विष अमृतमें परिणत हो जाता है और शस्त्र-समूह पुष्पके समान कोमल हो जाते हैं।'

फिर कलियुगमें तो भगवान्‌का नाम ही जीवके लिये एक आधार है—

है हरि-नामको आधार।
और या कलिकाल नाहिन रह्यो बिधि ब्यौहार॥
नारदादि सुकादि संकर कियो यहै बिचार।
सकल श्रुति दधि मथत काढ्यो इतो ई घृतसार॥
दसहु दिसि गुन करम रोक्यो, मीनको ज्यों जार।
सूर हरि को सुजस गावत, जेहि मिटे भव भार॥

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥

कलि नाम काम तरु राम को।
दलनिहार दारिद दुकाल दुख, दोष घोर घन घाम को॥

कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥
(श्रीमद्भा० १२। ३। ५२)

कृतजुग त्रेताँ द्वापर पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग॥

इन सब वचनोंपर विश्वास करके भगवन्नामका जप अवश्य करना चाहिये। इसमें मंगल-ही-मंगल है—

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥

(६)

भगवन्नामका महत्त्व

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। विशुद्ध होकर तथा सारे पापोंको छोड़कर जो भगवान्‌का नाम लिया जाता है, उसका तो कहना ही क्या है। हमलोगोंको यही आदर्श सामने रखना चाहिये कि भगवन्नाम लेनेपर हमारे हृदयमें पाप-संस्कार-का लेश भी न रहे। परंतु जो लोग अभी पापसे नहीं छूटे हैं, इच्छा न होनेपर भी जिनके मन-तनसे पापाचरण बन जाते हैं, वे क्या करें? उनके पापनाशका उपाय भी तो नाम-जप ही है। अतएव पापनाश होनेके बाद नाम-जप करेंगे, ऐसी धारणा ठीक नहीं। पहले नाम-जप करके पापोंका नाश कर लीजिये, फिर विशुद्ध होकर परम प्रेमपूर्वक नाम-जपका विलक्षण आनन्द लूटिये। भगवान्‌के नाममें विलक्षण पापनाशिनी शक्ति है। जिस किसी प्रकार भी भगवान्‌के नामका जीभसे स्पर्श हो जाना चाहिये, उससे पाप-नाश होते हैं।

स्कन्दपुराणमें आता है—

हास्याद्भयात्तथा क्रोधाद् द्वेषात् कामादथापि वा।
स्नेहाद्वा सकृदुच्चार्य विष्णोर्नामाघहारि च॥
(वैशाख० २१। ३६)

'हँसीसे, भयसे, क्रोधसे, द्वेषसे, कामसे या स्नेहसे—किसी भी प्रकारसे एक बार भगवान्‌के नामका उच्चारण पापोंका नाश करनेवाला होता है।'

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥
(६। २। १४)

'संकेतसे, हास-परिहाससे, स्तोभसे (विश्रामके लिये) अवहेलनासे—किसी प्रकार भी भगवान्‌का नाम लेनेपर वह पापोंका अशेष हरण करनेवाला होता है।'

यह उक्ति तो प्रसिद्ध ही है—

सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।

'श्रद्धासे हो या अवहेलनासे, कोई मनुष्य एक बार भी श्रीकृष्णका नाम ले लेता है तो वह उसे तार देता है।'

(७)

विधवाएँ अपने धर्मकी रक्षा करें

एक उच्च हिंदूकुलकी विधवा महिला हैं। वे लिखती

हैं—'भगवान्‌ने मेरे जीवनका सहारा मुझसे हमेशाके लिये अलग कर दिया है।........मैंने पूर्व-जन्ममें कौन-सा पाप किया था, जिसका दुःख मुझे देखना पड़ रहा है? किंतु इतनेपर भी मेरा विचार है कि यह दुनिया क्षणभंगुर है, जिंदगीका कोई भरोसा नहीं, शेष जीवन भगवान्‌के भजनमें व्यतीत करूँगी। परंतु समाज मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मेरी उम्र २० वर्षकी है, एक लड़का दो सालका है। इसपर भी समाज मेरा पुनर्विवाह करनेपर तुला हुआ है तथा मुझे हर प्रकारकी बातसे पथभ्रष्ट किया जा रहा है। मुझको फिसलानेके लिये चिकनी मिट्टी दिखायी जा रही है। मैं कबतक अपने मनको दृढ़ रख सकूँगी? क्या पुनर्विवाह शास्त्रसम्मत है? इसके विषयमें 'कल्याण'में दो शब्द देंगे, जिससे दिलमें शान्ति हो।'

यह उनके पत्रके एक अंशका उद्धरण है। वे उच्च कुलकी महिला हैं। उनके उच्च विचार हैं। सीता और सावित्रीकी परम्परामें उनका जन्म हुआ है। उनमें भी वे सतीत्वके संस्कार वर्तमान हैं। वे नहीं चाहतीं, अब पुनर्विवाह हो। वे यह भी जानती हैं कि जीवन क्षणभंगुर है, इसका क्षणभर भी भरोसा नहीं। फिर इसके लिये पापपंकमें डूबकर अपनेको नरकमें क्यों ढकेला जाय? प्रत्येक नारीको अपने वैधव्यके लिये दुःख होता है। उनको भी दुःख है। किंतु उस दुःखके आवेगमें वे अपने पवित्र धर्म एवं कर्तव्यको भुलाना नहीं चाहतीं। वे शेष जीवन भगवान्‌के भजनमें बिताना चाहती हैं। भगवान्‌का भजन सभी पापोंका एकमात्र अमोघ प्रायश्चित्त है। इससे तन-मन सभी पवित्र होते हैं और भविष्य मङ्गलमय हो जाता है।

मैं उक्त देवीसे विनयपूर्वक यही अनुरोध करना चाहता हूँ कि वे अपने धर्मपर दृढ़ रहें। आज जो दुःख प्राप्त हुआ है, वह अपने ही पूर्वकर्मका फल है; अतः दुःखसे छूटने और भविष्यमें कल्याण प्राप्त करनेके लिये सत्कर्म एवं श्रीभगवान्‌का सहारा लेना ही उनके लिये सर्वथा उचित है।

समाजके जो लोग उन्हें पथभ्रष्ट करनेकी चेष्टा करते हैं, वे पाप करते हैं। वे अपनी वासना या स्वार्थ-की पूर्तिके लिये उनको तो नरकमें ढकेलना चाहते ही हैं, उनके कुलीन बालकका भी भविष्य नष्ट करना चाहते हैं। ऐसे प्राणी अपने तो नरकमें डूबते ही हैं, अपने साथ दूसरोंको भी डुबोते हैं।

उन्होंने शास्त्रकी सम्मति जाननी चाही है। शास्त्र भगवान्‌की आज्ञा है, उनके आदेशका पालन करनेसे भगवान् संतुष्ट होते हैं और मनुष्यका परम हित होता है। शास्त्रके आदेश लोक-परलोक दोनोंको सुधारनेवाले होते हैं। वर्तमानमें सुख हो और भविष्य भी मङ्गलमय बना रहे, यह शास्त्रका उद्देश्य है। वही शास्त्र विधवा-को विवाहसे रोकता है। शास्त्रकी दृष्टिसे विधवाका पुनर्विवाह महापाप है (देखिये मनुस्मृति, अध्याय ९, श्लोक ६४ से ६८ तक)।

आजकलके सुधारक शास्त्रकारोंको निष्ठुर बताते हैं। परंतु शास्त्रकार कितने सदय हैं, इसका अनुभव उनको है ही नहीं। एक आदमी भूखसे अत्यन्त पीडित है, उसके सामने मधुर पकवान रक्खा हुआ है, वह उसपर टूट पड़ना चाहता है। एक सज्जन उस पकवानके पास बैठे हैं और उस भूखेसे कहते हैं, इसे न खाओ। इसे खा लेनेपर सुखके स्थानपर महान् दुःख होगा। वह उस मनुष्यको निष्ठुर बताकर भोजनपर टूट पड़ता है और सब चट कर जाता है। सोचता है, इतने मधुर भोजन-को यह दुःखकारक बता रहा था। कितना झूठा है!

परंतु वह झूठा नहीं था; वह जानता था इस भोजनमें घातक विष है। थोड़ी देरमें उसका असर हुआ। वह आदमी जो मौजसे माल उड़ाता था, मृत्युकी यन्त्रणासे छटपटाने लगा।

यही दशा वर्तमान विषयभोगकी सुविधाके लिये

शास्त्राज्ञाके विपरीत चलनेवालोंकी होती है। पुनर्विवाह-से विधवाको वही सुख मिलता है, जो विषमिश्रित भोजन करनेवाले भूँखे मनुष्यको मिला था। फिर असीम यन्त्रणा! अपार दुःखका सामना करना पड़ता है। अतः अपना परम कल्याण चाहनेवाली प्रत्येक विधवाको पुनर्विवाह-का विचार मनमें न लाकर ब्रह्मचर्य-पालनपूर्वक भगवद्भजन-में संलग्न रहना चाहिये।

जिस विधवाकी गोदमें बालक है, उसे उस बालक-के भविष्यकी भी रक्षा करनी है। उच्च कुलकी विधवा क्षणिक आवेशमें किसी मनचले युवकसे विवाह कर ले तो उसके पुत्रकी क्या दशा होगी? कौन उसे आश्रय देगा? जब वह बड़ा होगा, समाजमें आदरणीय व्यक्ति बनेगा, तब उसकी माताका कलङ्क उसे सब प्रकारके सम्मानसे वञ्चित कर देगा।

अतः समाजके श्रेष्ठ पुरुषोंको चाहिये वे विधवाओं-के धर्म-रक्षणमें सहयोग दें, उन्हें पाप-पङ्कमें न घसीटें। विधवा भी अपने धर्ममें दृढ़ रहे। भगवान् मङ्गल करेंगे। शेष प्रभुकी दया।

(८)

भगवद्विश्वाससे रोगनाश

प्रिय बहिन! सादर हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लिखा कि आपके पतिदेव पागल हो गये; आपके दो बच्चे हैं; और घरवालोंका बर्ताव जितना अच्छा होना चाहिये, उतना अच्छा नहीं है। आपका चित्त बहुत व्यथित है। कोई सहारा देनेवाला नहीं है। भगवान् सुनते नहीं हैं। सो वास्तवमें ऐसी स्थितिमें आपको दुःख होना स्वाभाविक है। जिसपर विपत्ति पड़ती है, वही जानता है; परंतु आपने जो यह लिखा कि भगवान् सुनते नहीं हैं, यह भूलसे लिखा है। भगवान् सुनते हैं और खूब सुनते हैं। भगवान्पर विश्वास होना चाहिये। आप ऐसा विश्वास कीजिये कि 'भगवान् मेरी सुन रहे हैं, मेरा मनोरथ अवश्य सफल होगा, मेरे पतिदेव निश्चय ही अच्छे होंगे और वे अच्छे होने जा रहे हैं। भगवान्की मुझपर बड़ी कृपा है। उनकी कृपासे मेरे सारे दुःख-कष्ट निश्चय ही दूर हो जायँगे।' इस प्रकार दृढ़ भावना कीजिये और इन विश्वासके वाक्योंको बार-बार दुहराते हुए भगवान्से प्रार्थना कीजिये। आपको अवश्य सफलता मिलेगी। भगवान्ने गीतामें स्वयं कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
(१८। ५८)

'मुझमें मन लगा ले, फिर मेरी कृपासे समस्त सङ्कटों और कठिनाइयोंसे तुम अनायास ही तर जाओगे।'......

भगवान्के ये वचन सर्वथा ध्रुव सत्य हैं। आप घबराइये मत, न निराश होइये और न भगवान्पर जरा भी अविश्वास कीजिये। भगवान्पर विश्वास न होनेके कारण ही निराशा, शोक, विषाद और चिन्ता होती है। सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् मङ्गलमय भगवान्पर विश्वास करते ही निराशा, शोक, विषाद और चिन्ता मिट जाती हैं और फिर परिस्थिति भी पलट जाती है। आप विश्वासपूर्वक नित्य प्रार्थना कीजिये, आपकी प्रार्थना सच्ची श्रद्धासे युक्त होगी तो आपके पतिदेवका स्वास्थ्य शीघ्र ही सुधर जायगा।

साथ ही एक दवा कीजिये। 'धवलबरवा' नामक एक जड़ी होती है, सभी जगह मिलती है। इसको संस्कृतमें 'सर्पगन्धा' कहते हैं। वहाँ न मिलती हो तो पता लिखनेपर हमलोग यहाँसे भेज सकते हैं। यह जड़ी ।।) भर सबेरे एक छटाँक गुलाबजलमें भिगो दी जाय और शामको उसमें तीन काली मिर्च मिलाकर उसी जलमें पीसकर उसे बिना छाने ही पिला दिया जाय। इसी प्रकार रातको भिगोकर सुबह पिला देना चाहिये। इससे खूब नींद आयेगी और पागलपन दूर हो जायगा। कमजोरी ज्यादा मालूम दे तो बीचमें एक दो दिन दवा बंद कर देनी चाहिये या मात्रा घटा देनी चाहिये। रोगीको पौष्टिक भोजन नहीं देना चाहिये। अमरूद

खिलाना बहुत अच्छा है। कुछ दिन दवा देनेपर ही लाभ दिखायी देगा।

सबसे बड़ी दवा है विश्वासके साथ भगवान्‌का नाम लेना। श्रीधन्वन्तरिजीके वाक्य हैं—

अच्युतानन्तगोविन्दनामोच्चारणभेषजात् ।
नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

'अच्युत, अनन्त, गोविन्द—इन नामोंके उच्चारणरूपी औषधसे सब रोगोंका नाश होता है—यह मैं सत्य-सत्य कहता हूँ।'

अतएव आप फलमें सन्देहरहित होकर सरल विश्वासके साथ 'अच्युताय नमः, अनन्ताय नमः, गोविन्दाय नमः' इन नामोंका जप कीजिये। आपके पतिदेव कर सकें तो उनसे भी कराइये। अवश्य लाभ होगा। लौकिक दुःखनाशका ही नहीं, भयङ्कर-से-भयङ्कर भवरोगके नाशका भी यही सर्वोत्तम उपाय है। इसपर विश्वास कीजिये। विशेष भगवत्कृपा।

(९)

सन्ध्योपासन अवश्य करना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण! आपका पत्र मिला। उत्तर निम्न-लिखित है—

१—गीता, रामायण, भागवत आदिका पाठ सभी कर सकते हैं। परंतु स्नान आदिके द्वारा शुद्ध होकर करना उत्तम है। प्रणवका उच्चारण स्त्री और शूद्रोंके लिये निषिद्ध है। सूतक-पातकमें भी मानस-पाठ किया जा सकता है।

२—यज्ञोपवीत-संस्कार हो जानेपर सन्ध्योपासनाके लिये जरूर समय निकालना चाहिये। मुसल्मान भाइयों-को यदि नमाजके लिये समय मिल जाता है तो हमें सन्ध्याके लिये क्यों नहीं मिलेगा? असलमें अपनी गौण-बुद्धि होनेपर ही अवहेलना होती है। सन्ध्यावन्दनको हम परम आवश्यक कार्य मान लें तो अन्य कार्योंसे इसके लिये अवकाश निकालना असम्भव नहीं है। जल आदि न मिलें तो समयपर मानसिक सन्ध्या कर लेनी चाहिये। सन्ध्या न होती हो, ऐसी अवस्थामें यज्ञोपवीत ही नहीं रक्खें—यह बात ठीक नहीं है। द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य)-के लिये यज्ञोपवीत धारण करना परम आवश्यक है। और यज्ञोपवीत धारण करनेके बाद सन्ध्या भी करनी ही चाहिये। यदि किसी अनिवार्य कारणवश कभी सन्ध्या न हो सके तो उसका प्रायश्चित्त किया जा सकता है; परंतु इसलिये यज्ञोपवीत धारण ही न करना सर्वथा अनुचित है।

३—सन्ध्या न होनेके कारण नाम-जप, गीता-पाठ और पूजा आदि व्यर्थ होते हैं, उनका फल नहीं होता—ऐसी बात नहीं है। इनके करनेका सुफल भी होगा और सन्ध्या न करनेके कारण पाप भी। श्रेष्ठ कर्म कभी शुभ फल देनेसे नहीं चूकते।

४—सूतक-पातकके समय वैदिक मन्त्रोंका मनसे उच्चारण कर लेना चाहिये। उस समय यज्ञोपवीत तो रहती है। इसमें कोई दोष नहीं है।

५—मानसिक पूजाके समय भगवान्‌के श्रीविग्रह, पूजाकी सामग्रीके साथ-साथ पूजा करनेवालेके रूपमें अपनी भी कल्पना करनी होगी, नहीं तो पूजा कौन करेगा; सो इसमें अलग अपनी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है। पूजा करनेवाला तो स्वयं बैठा ही है। वह कल्पना करता है अपने इष्टदेव भगवान्‌की, पूजन-सामग्रीकी और पूजनकी।

आश्चर्यजनक सत्य दैवी घटनाएँ

(१)

आश्चर्यजनक सत्यसे रक्षा

झालरापाटनसे श्रीकृष्णगोपालजी माथुर लिखते हैं—

एक घटना, जो हालमें ही इधर घटी है, जिसमें प्रभुने किस तरह एक अकेली स्त्री और बालककी रक्षा की है, सुनाता हूँ। यहाँ झालावाड़ राज्यकी सीमासे कोटा राज्य (राजस्थान) की सीमा मिली है। कोटेसे कोई पाँच कोसकी दूरीपर 'कैथोन' नामका एक कस्बा है, जहाँ कई वर्ष पहलेसे ही खादी बनती है, जो इधर बहुत प्रसिद्ध है। कोटेसे कैथोन किरायेकी मोटर जाती-आती है। उस रोज मोटर निकल चुकी थी। एक भले घरकी बाईको, जो जेवर पहने हुए थी, अपने बालकसमेत कोटेसे कैथोन जाना जरूरी था। एक सिंधी हिंदू अपने ताँगेमें बिठाकर उसे कैथोन पहुँचा देनेको तैयार हुआ। ताँगा चला। मार्गमें सिंधीने बाईसे कहा—यहाँ जंगल आ गया है; तुम अपने गहनोंको उतारकर कपड़ेमें बाँधकर ताँगेकी बैठकके नीचे रख दो, ताकि चोर-लुटेरोंका भय न रहे। उसने वैसा ही किया। आगे चलकर मार्गमें एक कुआँ आया। सिंधीने ताँगा ठहराया और वह अपनी बाल्टी कुएँसे भर लाया। फिर बाईसे बोला—'पानी पीना हो तो पी लो; आगे पानी नहीं आयेगा।' बाईने कहा—'मेरे पास लोटा-डोर नहीं है!' सिंधीने अपने पाससे लोटा-डोर दिया। वह बाई कुएँपर बालकसमेत गयी और ज्यों ही झुककर पानी खींचने लगी, त्यों ही पीछेसे सिंधीने आकर उसे कुएँमें ढकेल दिया और बालकको भी कुएँमें गिरा दिया। यह दुष्कृत्य करके वह ताँगा चलानेकी तैयारीमें लगा। परंतु फिर शायद यह विचार कर कि देखूँ, दोनों पानीमें डूबकर मर गये या नहीं, वह कुएँमें झाँकने लगा। देखता है—स्त्री अपने बालकको पकड़े हुए कुएँमें तैर रही है और कुएँकी एक खोहका सहारा लिये हुए है।

ताँगेवालेने शायद सोचा होगा कि यह जिंदा निकल आयेगी तो मुझे फँसा देगी—इसपर ऊपरसे भारी पत्थर डालकर इसका काम ही तमाम कर डालना चाहिये। वह पास ही एक बड़े पत्थरको उठाने लगा। ज्यों ही उसने पत्थरके एक सिरेको ऊँचा किया, त्यों ही उसके नीचेसे एक बड़ा भारी काला सर्प निकला और तुरंत सिंधीके दोनों हाथोंकी कलाइयोंमें लिपट गया, मानो हथकड़ी डाल दी गयी हो। और फन उसके मुँहके सामने फैला दिया। उसे काटा नहीं, और न फुंकार ही मारी।

इतनेमें ही उधरसे पुलिसके दो सिपाही चालानकी ड्यूटी बजाकर लौट रहे थे। उन्होंने सड़कपर ताँगा खड़ा देखा और ताँगेवालेको कुएँके पास घबराया हुआ देखा तो उन्हें सन्देह हुआ। ऊपरसे कुछ बोल-चाल सुनकर कुएँमेंसे स्त्री चिल्लायी। दोनों सिपाहियोंने सारा भेद खुलवाया। फिर नागदेवसे प्रार्थना की कि अब हमने इसे गिरफ्तार कर लिया है, आप चले जायँ। कहते हैं कि सर्प उसी समय हाथोंमेंसे निकलकर चला गया। (स्त्री बच्चेसहित कुएँसे निकाल ली गयी।) सिपाहियोंने सबको ताँगेमें बिठाया और कोटा पुलिसमें लाकर दाखिल किया। वहाँ नगरके राशि-राशि लोगोंने इसे सुना। बात दूर-दूरतक बिजलीकी तरह फैल गयी। सभीने परम रक्षक श्रीभगवान्‌को कोटिशः धन्यवाद दिये। धन्य है दयामय प्रभुको!

(२)

भगवतीके प्रसादसे रोगनाश

श्रीवैकुण्ठम्—तिन्नेवेली (दक्षिण भारत)-से एक बहिन लिखती हैं—यहाँ तिरुनेलवेलीमें एक ऑडीटर

महाशय रहते हैं। उनकी एक पुत्री लगभग आठ सालसे लकवेसे पीड़ित होकर शय्यासेविनी बन रही थी। कुछ भी बोल नहीं सकती थी। बुद्धि भी मन्द पड़ गयी थी। कितना ही औषधोपचार किया, परंतु कोई लाभ नहीं हुआ। पिछले भाद्रपद मासमें उसके घरके लोग उसको 'कुत्तलम' नामक तीर्थस्थानमें श्रीजगदम्बाके श्रीचक्रपीठको ले गये और महामायाके कृपाकटाक्षकी प्रतीक्षा करने लगे।

एक दिन रातको जब लड़कीको स्नान करवाकर श्रीचक्रपीठके सामने बैठाया गया, तब अचानक वह रोने और बोलने लगी तथा खड़ी होकर नृत्य करने लगी। सब लोग आश्चर्यमें पड़ गये। पूछनेपर उसने बताया—"अभी मेरी आँखोंके सामने एक दस वर्षकी सर्वाभरण-भूषिता कन्या आयी और मेरे सिरपर हाथ रखकर बोली—'तुम भी मेरे-ही-जैसे नृत्य करो और गाओ।' सहसा मेरी जीभ, जो खिंच गयी थी, खुल गयी, मानो किसीने हाथसे खोल दी हो।" यह कहकर लड़की नाचने और गाने लगी। हम सब लोग, जो वहाँ उपस्थित थे, फूले न समाये। करीब दो सप्ताहतक यह घटना समाचारपत्रोंका प्रधान विषय बनी रही। अब वह लड़की प्रसन्नचित्त और स्वस्थ है, खूब बोलती है और महामायाके ऊपर कविता रचकर गाती है। अपनी आँखोंके सामने ऐसी घटना देखकर किस मनुष्यका सिर भक्तिसे नहीं झुक जायगा ? मैं तो भगवती माताजीकी यह दया देखकर निहाल हो गयी। मेरे-जैसे भक्तिके भूखे जो कोई भी भाई-बहिन हों, वे भी इसे सुनकर मेरी ही भाँति माताजीके आगे सिर झुकायें। यही मेरी विनती है।

(३)

गोदावरी-स्नानसे दर्शन, श्रवण और भाषणशक्ति प्राप्त

एक सज्जन लिखते हैं—आश्चर्यकी बात है कि देवादेशसे पुण्यसलिला गोदावरीमें स्नान करके एक अंधा, बहरा और गूँगा नवयुवक देखने, सुनने और बोलने लगा। घटना यों है—पश्चिम गोदावरीके ताडेपल्लीगुडेम (Tadepalligudem) स्थानमें मदासू पोर्तुराजू नामक एक बीस वर्षका अंधा, बहिरा और गूँगा युवक रहता था। उसे कुछ दिन पहले स्वप्नमें एक नराकृति पुरुषने दर्शन देकर कहा—'तुम भद्राचलम् तीर्थमें जाकर गोदावरीजीमें स्नान करो।' तदनुसार उसके माता-पिता उसे भद्राचलम् ले गये और भगवान् श्रीरामके नामका स्मरण करते हुए उन्होंने उसको गोदावरीजीमें गोता लगवाया। गोता लगाकर जब वह बाहर निकला तो सबने आश्चर्यसे देखा कि उसमें देखने-सुनने और बोलनेकी शक्ति आ गयी है। सभी लोग हर्षोत्फुल्ल हो गये। आज भी बीच-बीचमें तीर्थोंका ऐसा विचित्र माहात्म्य दिखलायी दे जाता है कि जिसको देखकर यह विश्वास होता है कि तीर्थों और देवताओंमें महान् शक्ति अन्तर्निहित है।

(४)

सत्यका चमत्कार

(लेखक—श्रीअमरनाथजी सत्सङ्गी)

बात है सन् १९२२ की। उस समय रियासत उदयपुरमें मि० विलकिसन साहब रेजीडेंट और आबूमें मि० कालोन एलियट, ए. जी.-जी. थे। मेरे ससुर उदयपुर रेजीडेंसीमें हेडक्लर्क थे। वे रहनेवाले तो थे अलवर राज्यके, किंतु मेरा विवाह उन्होंने उदयपुरमें ही किया था।

आर्. ई. ई. कालेज आगरा तीन महीनेके लिये बंद हो गया था, इस कारण गर्मीकी छुट्टी बितानेके लिये मैं उदयपुर चला गया था। एक दिन सन्ध्या-समय मैं और मेरे ससुर बगीचेमें बैठे हुए टहलनेका कार्यक्रम बना रहे थे कि अचानक पण्डितजी (मेरे ससुर) ने कहा, 'कल प्रातःकाल एक आवश्यक मुकदमेका

फैसला करने रेजीडेंट और ए. जी.-जी. सियारवाँ गाँव जायँगे। महाराणासाहब भी साथ रहेंगे; इच्छा हो तो तुम भी चल सकते हो। स्थान सुन्दर और आकर्षक है और जिस मामलेका फैसला करना है, वह भी विचित्र और पेचीदा है।'

मामलेके विचित्र होनेका तो मुझे विश्वास हो गया था; क्योंकि महाराणा फतहसिंह-जैसे चतुर नरेशके लिये कोई मामला भी मुश्किल नहीं था। किंतु इस मामलेके लिये रेजीडेंट और ए. जी.-जी.को खास तौरसे बुलाया गया था। बात यह थी कि सियारवाँ-गाँव महाराज सज्जनसिंहने ब्राह्मणोंको माफीमें दे रक्खा था और गाँवके ब्राह्मण सरकारको कोई लगान तो देते नहीं थे। ऊपरसे १२००) रु० ब्रह्मभेंटके रूपमें प्राप्त करते थे, जिसे कि अब महाराणा फतहसिंहने बंद कर दिया था। और गाँववालोंपर वे जबर्दस्ती लगान लगाना चाहते थे। इसी कारण सियारवाँ गाँवके ब्राह्मणोंने ए. जी.-जी.से अपील की थी कि वे महाराणाको ऐसा करनेसे रोकें। यद्यपि कानूनी तौरसे तो पोलिटिकल डिपार्टमेंट राज्यके आन्तरिक मामलेमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता था, परंतु इस मामलेमें महाराणासाहबने स्वयं आदेश दे दिया था। उन्हें विश्वास था कि गाँववालोंके पास किसी प्रकारका लिखित प्रमाण नहीं है, फलतः ए. जी.-जी. का फैसला निश्चय ही राज्यके पक्षमें होगा।

दूसरे दिन हमलोग प्रातःकाल ही सियारवाँ गाँवके लिये चल पड़े। नावसे चलनेपर तो यह गाँव उदयपुरसे केवल छः फर्लांग पड़ता है; किंतु हमलोग गाड़ियोंसे गये थे। इसलिये साढ़े पाँच मीलकी दूरी तै करनी थीं; क्योंकि सड़क सागरके पाससे घूमकर जाती थी। हमें हौदी नामक स्थानपर उतरना पड़ा। यहाँसे डेढ़-मील तक पहाड़ी रास्ता पैदल चलना था। हौदी उदयपुरसे चार मीलपर एक अत्यन्त सुन्दर स्थान है, जहाँ प्रतिदिन सन्ध्याको पाँच बजे जंगली सूअरोंको मकई डाली जाती थी और मेवाड़के जंगली सूअर शामको वहाँ एकत्र हो जाते थे। अब पता नहीं, राज्यकी ओरसे इन सूअरोंको मकई डाली जाती है या नहीं। कुछ मोटे-मोटे जंगली सूअर प्रदर्शनीके लिये एक मकानमें बंद भी किये हुए थे। यहाँसे चलकर लगभग दो घंटेकी यात्राके बाद हमलोग सियारवाँ पहुँचे। ए. जी.-जी. और महाराणासाहब पालकीमें थे। इसलिये वे आरामसे रहे, पर हमलोग थकानका अनुभव कर रहे थे।

जहाँ पड़ाव डाला गया था, वह अत्यन्त आकर्षक स्थान था। एक बहुत बड़ी बावली थी, जिसके चारों तरफ किनारोंपर दूर-दूरतक संगमर्मरका फर्श बिछा हुआ था। वहीं एक अत्यन्त पुरातन सघन वट-वृक्ष बावलीके एक कोनेपर था, जिसकी दाढ़ी बढ़ती हुई भूमिमें प्रवेश कर गयी थी और वह विशाल वृक्ष समस्त बावलीके बाहरी संगमर्मरके फर्शपर एक शानदार छतका काम दे रहा था। यह स्थान चारों तरफसे कुछ जगह छोड़कर पहाड़ों और घने जंगलोंसे ढका हुआ था।

गाँव सियारवाँके ब्राह्मण एक ओर फर्शपर बैठे थे और दूसरी तरफ हमलोगोंके लिये मोढ़ोंका प्रबन्ध था। सबपर एक दृष्टि डालनेके बाद ए. जी.-जी., मि० कालोन एलियटने गाँवके मुखियाको अपने सामने बुलाकर कहा, 'तुम्हारे पास कोई ताम्रपत्र या लिखित प्रमाण हो तो उपस्थित करो।' मुखिया बीस-बाईस वर्षका युवक था। वह कोई उत्तर नहीं दे सका। दूसरा एक अधेड़ वयका व्यक्ति सामने लाया गया। उसने बतलाया कि 'महाराजा सज्जनसिंहने जिस समय यह गाँव ब्राह्मणोंको माफीमें दिया था, उस समय ताम्रपत्रपर उन्होंने हस्ताक्षर अवश्य किया था—यह हम अपने पूर्वजोंसे सुनते आये हैं; किंतु वह ताम्रपत्र अब कहाँ या किसके पास है, यह हमें विदित नहीं।' अधेड़ व्यक्तिके इस कथनपर मुसकराते हुए महाराणासाहब बोल उठे 'यदि

ऐसा कोई भी ताम्रपत्र होता तो वह अवश्य ही सुरक्षित रक्खा जाता।' ए. जी.-जी. ने गाँवके आदमियोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए कहा, 'यदि तुमलोग कोई लिखित प्रमाण उपस्थित नहीं कर सकते तो निर्णय महाराणासाहबके पक्षमें होगा।'

गाँवके ब्राह्मण परस्पर एक दूसरेका मुँह ताकने लगे; किंतु उसी समय एक वृद्ध ब्राह्मण लकड़ीके सहारे खड़ा हुआ और आँखें बंद करके कुछ गुनगुनाने लगा। मैं मेवाड़ी भाषासे परिचित नहीं था, इस कारण उस समय उसका अर्थ मेरी समझमें नहीं आया; किंतु बादमें विदित हुआ कि उसने कहा था कि 'दयामय प्रभो! यदि आजतक मेरे गाँवके आदमियोंने कोई अनर्थ नहीं किया हो और सच्चे हृदयसे मातृभूमिकी सेवा की हो तो आज इस संकटमें आप हमारी सहायता करें।'

जन-समुदाय वृद्धकी ओर देख रहा था कि अचानक वृक्षपरसे मनुष्यके बराबर कदका एक बंदर बावलीमें कूद पड़ा। फलतः सबका ध्यान उस वृद्ध ब्राह्मणकी ओरसे हटकर बावलीकी ओर चला गया। लगभग पंद्रह सेकंडके बाद बंदर पानीसे बाहर निकला और एक ताम्रपत्र ए. जी.-जी. के सामने रखकर वृक्षपर चढ़ गया। ए. जी.-जी. देवनागरी लिपि नहीं जानते थे, इस कारण उन्होंने वह पत्र दूसरे आदमीको पढ़नेके लिये दिया। उसने पढ़कर बतलाया कि यह महाराज सज्जनसिंहका उस समयका दस्तावेज है जब कि उन्होंने ब्राह्मणोंकी भक्तिसे प्रसन्न होकर यह गाँव उनको माफीमें दिया था। उस ताम्रपत्रको सबने बारी-बारीसे देखा और जब सब लोग देख चुके, तब वही बंदर वृक्षसे नीचे उतरा और पत्र हाथसे छीनकर पुनः बावलीमें कूद पड़ा। बंदर फिर वापस नहीं आया।

सब चकित थे और ए. जी.-जी. के कोई निर्णय देनेके पूर्व ही महाराणासाहबने खड़े होकर घोषित कर दिया कि जबतक मेवाड़के सिंहासनपर राजपूत हैं, तबतक यह गाँव माफीमें ब्राह्मणोंके पास ही रहेगा और उन्हें १२००) रु० वार्षिक सरकारी कोषसे पूर्ववत् मिलते रहेंगे।

इस घटनापर, सम्भव है, आजके युवक विश्वास न करें; किंतु मुझे पूर्ण विश्वास है कि आज भी भगवान्के दरबारमें सत्य और ईमानदारीका पूर्ण सम्मान है और अब भी वे सच्चे और ईमानदार लोगोंकी सहायता किया करते हैं।

(दिल्लीके उर्दूपत्र 'रियासत'के गत ३१ अक्टूबर सन् १९४९ के अङ्कमें प्रकाशित। प्रेषक—स्वामी पारसनाथ सरस्वती)

कैसे सामवेद गावैगो

बाँस बनी बाँसुरी न जानै स्वरभेद नेक, निकरैगो गीत सोई जन जो बजावैगो।
वायुकी लहर मैं न निजबल बोलिबो है, रेडियो मैं साधु-शब्द शोध सुधी भावैगो॥
बारिद बरसि सकै बिनु सिंधु जल कहाँ, मन-मति-गति नाहिं नाथ कौं रिझावैगो।
करिबो विनय वर 'सिरस'की शक्ति नाहिं, अवर-सवर कैसे सामवेद गावैगो॥

—श्रीशिवरत्न शुक्ल 'सिरस'

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचारसम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

सम्पादक—

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सं० २००५-६] [सन् १९४९

निबन्ध, कविता तथा चित्र-सूची

वर्ष २३

लेख-सूची

क्रम-संख्या विषय	पृष्ठ-संख्या
१—अक्रूरका सौभाग्य (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	९८५
२—अक्ष्युपनिषद्	६८६
३—अर्थ और रहस्यका भेद (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१३७९
४—अधर्माचरणसे भारतका कल्याण नहीं (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ...	१२७६
५—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शङ्कराचार्य स्वामीजी श्रीब्रह्मानन्दजी सरस्वतीका उपदेशामृत ...	१३५५
६—अपने विचार दूसरोंपर न थोपो (कुमारी भारती)	१२६१
७—अपूर्व आत्मसमर्पण (श्रीयुत एस० एम० बोरा)	८३९
८—अपौरुषेयताका अभिप्राय (स्वामीजी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज) ...	२१
९—अमृत-कण (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके प्रवचनोंसे)	११७५
१०—अमृतत्वकी प्राप्तिका साधन [संगृहीत] (क्षुरिक०)	७६१
११—अमृतनादोपनिषद् ...	६७३
१२—अमूढ़ [कहानी] (श्री 'चक्र') ...	१४५२
१३—अयाचना (प्रो० पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ...	११२८
१४—अवधूत [कहानी] (श्री 'चक्र') ...	९९३
१५—अहिंसा और जैन-धर्म (श्रीज्योतिप्रसादजी जैन, बी० ए०)	१२१२
१६—आठ गुणोंसे युक्त आत्माको जाननेका फल [संगृहीत] (छान्दोग्य०) ...	६३९
१७—आत्मदान (साधुवेषमें एक पथिक) ...	१४४४
१८—आत्मोद्धारविषयक प्रश्नोत्तर (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	११०८
१९—आध्यात्मिक दृष्टि (प्रो० पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ...	९९१
२०—आरुणिकोपनिषद्	७६२
२१—आश्चर्यजनक सत्य दैवी घटनाएँ ...	१४७७
२२—इच्छाशक्ति या प्रभुपर विश्वास	८४४
२३—इष्ट-रहस्य (महामहोपाध्याय पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम्० ए०, डी० लिट्०) ...	१०१२
२४—ईशावास्योपनिषद्	१६१
२५—ईशोपनिषद्पर व्यावहारिक दृष्टि (श्रीरामलालजी पहाड़ा)	९७९
२६—ईशोपनिषद्में 'शक्तिकारणवाद' (श्री १०८ स्वामीजी महाराज)	७८
२७—ईश्वर-प्रार्थनापर महात्मा गाँधीजीके उद्गार (संकलित)	८६१
२८—ईश्वर ही जानता है (श्रीलेस्ले ई० डन्किन) ...	१४५७
२९—उपनिषत् (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	१५२
३०—उपनिषत्तत्त्व (श्रीमहामण्डलके एक साधु-सेवक)	५६
३१—उपनिषत्तत्त्व (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ...	६०
३२—उपनिषद् (पूज्य श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्ज्योतिष्पीठाधीश्वर स्वामी श्रीब्रह्मानन्द सरस्वतीजी महाराज) ...	५
३३—उपनिषद्-अध्ययनके लिये अपेक्षित दृष्टिकोण (श्रीजीन हर्बर्ट, जेनेवा)	१४३६

३४–उपनिषद् और अद्वैतवाद (पं० श्रीरामगोविन्दजी त्रिवेदी, वेदान्तशास्त्री) ··· ८९
३५–उपनिषद् और कर्तव्याकर्तव्यविवेक (माननीय बाबू श्रीसम्पूर्णानन्दजी, शिक्षा-सचिव, युक्तप्रान्त) ३०
३६–उपनिषद् और रामानुजवेदान्तदर्शन (वेदान्ताचार्य पं० श्रीरामकृष्णजी शास्त्री, बी० ए०) ··· ९७
३७–उपनिषद्का अमर उपदेश (माननीय गवर्नर जनरल चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचारी महोदय) २६
३८–उपनिषद्का तात्पर्य (श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ··· १८
३९–उपनिषद्की दिव्य शिक्षा (आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ··· ३६
४०–उपनिषद्की व्युत्पत्ति और अर्थ (पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०) ··· १३२
४१–उपनिषद् गुरुवाक्य हैं (श्रीदशरथजी श्रोत्रिय, एम्० ए०, साहित्याचार्य, विद्याभूषण) ··· ९९
४२–उपनिषद्-ग्रन्थोंका रचनाकाल (ज्यो० भू० पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी) ··· ११९
४३–उपनिषद्में युगल स्वरूप ··· १२८
४४–उपनिषद्में ज्ञानकी पराकाष्ठा (महामहोपाध्याय शास्त्ररत्नाकर पं० श्रीअ० चिन्नस्वामी शास्त्री) ··· ४९
४५–उपनिषद्-रहस्य (आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा, एम्० ए०) ··· ··· ४१
४६–उपनिषद् हिंदू-जातिके प्राण हैं (भक्त रामशरणदासजी) ··· ··· १५६
४७–उपनिषदुक्त ज्ञानसे ही सच्ची शान्ति (श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमद्रसालपुरवराधीश्वर अनन्तश्री स्वामीजी श्रीपुरुषोत्तमनरसिंह भारतीजी महाराज) ··· ··· १७
४८–उपनिषदोंका आध्यात्मिक प्रभाव (बिहारके गवर्नर माननीय श्री एम्० एस्० अणे महोदय) २६
४९–उपनिषदोंका एक अर्थ है, एक परमार्थ है (श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यजी महाराज) ··· ··· ९
५०–उपनिषदोंका नवीन वैज्ञानिक तथ्य (पं० श्रीरामनिवासजी शर्मा) ··· ··· ९४
५१–उपनिषदोंका महत्त्व और उपदेश (श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या, बी० ए०) ··· ११८
५२–उपनिषदोंका सारसर्वस्व ब्रह्मसूत्र (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम्० ए०, आचार्य) ६७
५३–उपनिषदोंकी श्रेष्ठता (श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीद्वारकाशारदापीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थजी महाराज) १३
५४–उपनिषदोंमें आत्मानुभव (श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम') ··· ··· ७७२
५५–उपनिषदोंमें औदार्य (महामहोपाध्याय डा० पी० के० आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ··· ··· ८७
५६–उपनिषदोंमें भेद और अभेद-उपासना (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ६८
५७–उपनिषदोंमें वाक्‌का स्वरूप (पं० श्रीरामसुरेशजी त्रिपाठी, एम्० ए०) ··· १०६
५८–उपनिषदोंमें श्रीसर्वेश्वर (विद्याभूषण सांख्य-साहित्य-वेदान्ततीर्थ श्रीव्रजवल्लभशरणजी वेदान्ताचार्य) ··· ··· ७६९
५९–उपनिषदोंमें सनातन सत्य (माननीय पं० श्रीरविशंकरजी शुक्ल, प्रधानमन्त्री मध्यप्रान्त-बरार) ··· ··· ··· २९
६०–उपनिषदोंसे मैंने क्या सीखा ? (पं० श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय) ··· ··· १३२
६१–उपलब्ध उपनिषद्-ग्रन्थोंकी सूची ··· १५३
६२–एकमात्र श्रीकृष्ण ही भजनीय हैं [संगृहीत] (गोपालपूर्व०) ··· ··· ६६३
६३–एकान्तकी महिमा (साधुवेषमें एक पथिक) ९३९
६४–ऐतरेयोपनिषद् ··· ··· २९७
६५–औपनिषद आत्मतत्त्व (याज्ञिक पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा गौड़, वेदाचार्य, वेदरत्न) ··· ११२
६६–औपनिषद सिद्धान्त (श्रीश्रीस्वामीजी श्रीविशुद्धानन्दजी परिव्राजक) ··· ··· ५८
६७–कठरुद्रोपनिषद् ··· ··· ६३४
६८–कठोपनिषद् ··· ··· १८५
६९–कमीकी पूर्तिका उपाय (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) ··· ··· ९२९
७०–कम्यूनिज्मका खतरा (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· १३९५
७१–कलिसंतरणोपनिषद् ··· ··· ६९७
७२–कल्याण ('शिव') ७७८, ८४२, ९०६, ९७०, १०३४, १०९८, ११६२, १२२६, १२९०, १३५४, १४१८

७३–कल्याण-मार्ग (श्रीयोगेन्द्रनाथजी, बी० एस्-सी०) ··· १३३
७४–कर्मयोग (स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजके भाषणसे) ··· ··· १३११
७५–काबुल-विश्वविद्यालयमें संस्कृतकी शिक्षा (डा० रघुवीर एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, एट फिल) ··· ··· ९६७
७६–कामके पत्र ८२९, ८८४, ९४८, १०१८, १०८४, ११५७, १२०४, १२६८, १३३६, १४१२, १४६७
७७–कामना ही दुःखका मूल है ··· तीसरे अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
७८–किसके द्वारा किसको जीते ··· चौथे अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
७९–केनोपनिषद् ··· ··· १७२
८०–कैवल्योपनिषद् ··· ··· ६३२
८१–कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् ··· ··· ५११
८२–क्रोधका बुरा परिणाम ··· पाँचवें अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
८३–गंडेरियाँ (कहानी) (श्रीदुर्गाशंकरजी व्यास) १२१९
८४–गणपत्युपनिषद् ··· ··· ६९८
८५–गर्भोपनिषद् ··· ··· ६३०
८६–गीता और सनातन धर्म (एक महात्मा) ··· ९२०
८७–गीता-जयन्ती (संपादक कल्याण) ··· ग्यारहवें अङ्कके टाइटलका तीसरा पृष्ठ
८८–गीतोपनिषद् (स्वामीजी श्रीराजेश्वरानन्दजी) १०१
८९–गीतोपनिषद्की श्रेष्ठता और उसके कारण (माननीय डा० श्रीकैलाशनाथजी काटजू, गवर्नर, बंगप्रान्त) ··· ··· २७
९०–गोपालपूर्वतापनीयोपनिषद् ··· ··· ५५१
९१–गोपालोत्तरतापनीयोपनिषद् ··· ··· ५५९
९२–गोवध सर्वथा बंद हो ··· ··· १२१७
९३–गोवधको प्रोत्साहन (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ग्यारहवें अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
९४–गोवधको दूसरा एक और प्रोत्साहन (हनुमानप्रसाद पोद्दार) बारहवें अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
९५–गोवंशकी रक्षा तथा उन्नति (लाला हरदेवसहायजी) ··· ··· ९६०
९६–चातक चतुर राम स्याम घनके (पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय) ८२५, ८७३, ९४१, १००२
९७–चाहने योग्य सत्य वस्तु ··· ··· ९०८
९८–चाक्षुषोपनिषद् ··· ··· ६८९
९९–चित्त ही संसार है [संग्रहीत] (मैत्रेयी०) ··· २९
१००–छान्दोग्योपनिषद् ··· ··· ४०६
१०१–छः प्रकारकी महत्त्वपूर्ण चार-चार बातें (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १२९९
१०२–जगत्की दुःखमयता और आनन्दमयता [संग्रहीत] (वराहोपनिषद्) ··· ६८५
१०३–जन अभिमान न राखै काऊ (श्रीमावसार 'विशारद') ··· ··· १३२९
१०४–जाबालदर्शनोपनिषद् ··· ··· ७००
१०५–जाबाल्युपनिषद् ··· ··· ७६४
१०६–जीवनका दार्शनिक विश्लेषण और प्राच्य दर्शनके अनुसार उसकी व्याख्या (श्रीजयनारायणजी मल्लिक, एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार) ··· ··· ८१८
१०७–जीवात्मा और परमात्माकी एकता (पं० श्रीहरिकृष्णजी झा, व्याकरण-वेदान्ताचार्य, वेदशास्त्री, साहित्यालङ्कार) ··· ··· १०३
१०८–तपस्वी [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ८७८
१०९–तबसे बैठा देख रहा हूँ फिर आनेकी राह [कहानी] (स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती) १३४९
११०–तेजोबिन्दूपनिषद् ··· ··· ६६८
१११–तैत्तिरीयोपनिषद् ··· ··· ३१३
११२–तैत्तिरीयोपनिषद् और ब्रह्मसूत्र (प्रो० पं० श्रीजीवनशंकरजी याज्ञिक एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ··· ६४
११३–त्यागी [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ९३२
११४–त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद् ··· ७१४
११५–दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं (पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय) ··· ··· १११५
११६–दानवीर [एकाङ्की नाटक] (श्रीशिवशंकरजी वासिष्ठ) ··· ··· १०००
११७–दार्शनिक ज्ञानका मूल स्रोत (माननीय पं० श्रीगोविन्दवल्लभजी पंत प्रधानमन्त्री युक्तप्रदेश) ··· ··· २६
११८–दीनता (पं० श्रीमूलनारायणजी मालवीय) ७९९
११९–दुःखका रहस्य (श्रीब्रह्मानन्दजी) ··· १०११
१२०–दुःखनाशका अमोघ उपाय ··· ··· ७८१
१२१–देव्युपनिषद् ··· ··· ६४६
१२२–देशवासियोंसे विनीत प्रार्थना (बाबा राघवदासजी एम्० एल्० ए०) ··· ग्यारहवें अङ्कके टाइटलका तीसरा पृष्ठ

१२३–देह-नाशसे आत्माका नाश नहीं [संगृहीत] (आत्मप्रबोध०) ··· ··· ६३६
१२४–दो विद्याएँ [संगृहीत] (ब्रह्मबिन्दु०) ··· ७६३
१२५–दोष किसका है (श्री 'दुर्गेश') ··· ९५९
१२६–दो सत्य घटनाएँ (पं० श्रीभवदेवजी झा) १२६२
१२७–द्वार खोलो [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ११३०
१२८–धनका सदुपयोग (साधुवेषमें एक पथिक) ··· १२०२
१२९–धर्म, अध्यात्म, स्वास्थ्यकी उन्नति और अन्न-संकट-निवारणका उपाय [कल्याणके पाठकोंसे प्रार्थना] (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· १२७८
१३०–धर्मसे ही विश्वका परित्राण सम्भव है (श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेशरी) ··· १२५४
१३१–ध्यानबिन्दूपनिषद् ··· ··· ६६६
१३२–नाथ-भागवत (श्री वि० हर्षे एम्० ए०, साहित्यविशारद) ··· ७९३, ८६२
१३३–नादबिन्दूपनिषद् ··· ··· ६६९
१३४–नारदपरिव्राजकोपनिषद् ··· ··· ७३५
१३५–नारायणोपनिषद् ··· ··· ६९१
१३६–निर्लिप्तताका मनोविज्ञान (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) ··· ··· १३१२
१३७–निवेदन और क्षमा-प्रार्थना (सम्पादक) ··· ७७५
१३८–निश्चयके अनुसार ब्रह्मकी प्राप्ति [संगृहीत] (छान्दोग्य०) ··· ··· ६६५
१३९–नीलरुद्रोपनिषद् ··· ··· ६४०
१४०–नृसिंहपूर्वतापनीयोपनिषद् ··· ··· ५६७
१४१–नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद् ··· ··· ५८०
१४२–पतिप्रेममें एक सतीका जीवन-विसर्जन (श्रीहरिलालजी शर्मा 'व्यास') ··· ··· १४११
१४३–पतिव्रताकी परीक्षा [कहानी] (स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती) ··· ··· १०६८
१४४–परमपद [संगृहीत] (बृहज्जाबाल०) ··· ५६६
१४५–परमात्माका चिन्तन करो [संगृहीत] (अध्यात्म०) ··· ··· ६८८
१४६–परमार्थ-पत्रावली (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पत्र) ९१६, १००६, १०४६, ११४९, ११९५
१४७–परीक्षाका समय (श्रीब्रह्मानन्दजी) ··· ११०७
१४८–परोपकारकी महत्ता ··· दूसरे अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
१४९–पशुओंके रोग और उनकी चिकित्सा (श्रीमंगलसिंहजी पँवार 'किसानकेसरी') ··· १३४४
१५०–पक्षी [कहानी] (श्रीआत्मारामजी देवकर 'साहित्यमनीषी') ··· ··· ८१७
१५१–पाश्चात्त्य पण्डितोंपर उपनिषद्का प्रभाव (श्रीरासमोहन चक्रवर्ती पी-एच्० बी०, पुराणरत्न, विद्याविनोद) ··· ··· १०४
१५२–पाश्चात्त्य विद्वानोंपर उपनिषदोंका प्रभाव (श्रीयुत वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम्० ए०) ··· ८५
१५३–पूर्वजन्म तथा कर्मफल ··· १४५९
१५४–प्रगतिशील जीवन और आध्यात्मिक चिन्तन (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) ११८६
१५५–प्रति-भावनाका अभ्यास (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल एम्० ए०, बी० टी०) ··· १३९३
१५६–प्रभुका आदेश ··· ··· ९७१
१५७–प्रभुके साथ सम्पर्क ··· ··· १३५७
१५८–प्रभुपर विश्वास [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· १०५५
१५९–प्रशान्त [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ८०८
१६०–प्रश्नोपनिषद् ··· ··· २३४
१६१–प्राकृतिक चिकित्साके कुछ नये अनुभव (श्रीधर्मचन्दजी सरावगी) ··· ··· १०९५
१६२–प्रार्थनाके लिये प्रार्थना (ठाकुर श्रीरणवीरसिंहजी शक्तावत) ··· ··· १२६६
१६३–प्रेमपरवश भगवान्की लीला (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· ८५४
१६४–बकरीद (श्रीसैयद कासिमअली साहित्यालङ्कार) ११९९
१६५–बड़ी गोद किसकी (श्री 'दुर्गेश') ··· १३२५
१६६–बन्धमोक्षका कारण (श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ··· ८४३
१६७–बह्वृचोपनिषद् ··· ··· ६४९
१६८–बावरी गोपी (प्रेम भिखारी) ११३५, १३१५, १३९७, १४४१
१६९–बृहदारण्यकोपनिषद् ··· ··· ४५९
१७०–बृहदारण्यकोपनिषद्में ऐतिहासिक अध्ययनकी सामग्री (आचार्य बी० आर० श्रीरामचन्द्र दीक्षितार, एम्० ए०) ··· ··· १५८
१७१–बेकारीकी समस्या और भगवान् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· ११३९
१७२–ब्रह्म और ईश्वरसम्बन्धी औपनिषदिक विचार (दीवानबहादुर श्री के० एस्० रामस्वामी शास्त्री) ··· ··· ८१
१७३–ब्रह्मका स्मरण करो और आसक्तिका त्याग करो (संगृहीत) ··· ··· १११

१७४–ब्रह्मको ढूँढ़ना चाहिये [संगृहीत] (छान्दोग्य०) ··· ··· ६८३
१७५–ब्रह्मविद्या (श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानुजसम्प्रदायाचार्य आचार्यपीठाधिपति श्रीराघवाचार्यजी स्वामी महाराज) ··· ··· ५४
१७६–ब्रह्मबिन्दूपनिषद् ··· ··· ६६४
१७७–ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्मत्वकी प्राप्ति [संगृहीत] (बृहदारण्यक०) ··· ··· ६६७
१७८–भक्तिके भेद (पं० श्रीगोविन्दनारायणजी आसोपा, बी० ए०, एम्० आर० ए० एस्०) ··· ··· १४३९
१७९–भगवान्‌की दिव्य लीला (श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ··· १०३५
१८०–भगवान्‌के शीघ्र मिलनमें भाव ही प्रधान साधन है (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· १४५०
१८१–भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और औपनिषद ब्रह्म ··· १४७
१८२–भगवान् श्रीरामचन्द्र और औपनिषद-ब्रह्म (पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय) ··· १४१
१८३–भगवान् ही सब कुछ हैं······उपनिषद्-अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
१८४–भजन-प्रभाव (एक भक्त-चरण-रजोऽभिलाषी) १३८९
१८५–भारतीय दर्शनका व्यावहारिक रूप (श्रीधर्मदेवजी शास्त्री, दर्शनकेशरी) ··· ९८९
१८६–भारतीय संस्कृतिका महान् विचारक श्रीदाराशिकोह (श्रीसीतारामजी सहगल) ··· १०६६
१८७–भारतीय संस्कृतिका संयुक्त मोर्चा (श्रीसत्यदेवजी विद्यालङ्कार) ··· ··· ९६३
१८८–भीतर-बाहर नारायण ही व्याप्त हैं (नारायणोपनिषद्) ··· ··· ६७५
१८९–भौतिक और आध्यात्मिक धन (पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०) ··· १४३२
१९०–मधुर स्मृति [संकलित] (शान्ति गुई) ··· ८९९
१९१–मनकी सँभाल ··· ··· १०९९
१९२–मन ही बन्ध-मोक्षका कारण है [संगृहीत] (ब्रह्मबिन्दु०) ··· ६२९
१९३–महाकाल [कहानी] (स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती) ··· ··· १३९९
१९४–महाभाग राजर्षि भगीरथ (श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ··· ९०७
१९५–महोपनिषद् ··· ··· ६०३
१९६–माण्डूक्योपनिषद् ··· ··· २८९
१९७–मानस-नवाह्नके विश्राम (श्रीवासुदेवजी गोस्वामी) ··· ··· १४६५
१९८–मुक्तिकोपनिषद् ··· ··· ६२३
१९९–मुण्डकोपनिषद् ··· ··· २६२
२००–मुद्गलोपनिषद् ··· ··· ६७६
२०१–मृत्युके मुखसे (प्रो० श्रीजयगोविन्दरायजी एम्० एड्०) ··· ··· १२१५
२०२–यह विषमता कैसे दूर हो (श्रीबलराम भगवानदासजी चौरे) ··· १०७१, ११४१
२०३–योग और परकाय-प्रवेश (महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· ··· १४२७
२०४–योगभक्तिनिदिध्यासन (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी सरस्वती) ··· १२४६, १३०५, १३८३
२०५–रक्तसङ्करसे बचाव ही वर्ण-जातिसङ्करताको हानिकर ही सिद्ध करता है (श्रीअञ्जारजी) ··· ८९३
२०६–रामचरितमानसका अध्ययन (श्रीपुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, एम्० ए०) ··· १३३२
२०७–राम-नामकी महिमा (महामहोपाध्याय डा० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम्० ए०, डी० लिट्०) ··· ··· १३७७
२०८–राम प्रेम मूरति तनु आही (पं० श्रीरामकिङ्करजी उपाध्याय) ··· ११८१, १४६१
२०९–रुद्रहृदयोपनिषद् ··· ··· ६३७
२१०–रोग और मृत्युको तप समझनेसे महान् लाभ [संगृहीत] (बृहदारण्यक०) ··· ५५०
२११–वाल्मीकि-रामायण महाभारतसे अर्वाचीन है (पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि) ··· १३२६
२१२–वासुदेवोपनिषद् ··· ··· ७६६
२१३–विचारकी शक्तिका ह्रास (प्रो० पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०, बी० टी०) ··· १२५५
२१४–विचारोंका संयम ··· ··· १०३७
२१५–विनय-पत्रिकामें 'आत्मनिवेदन' (साहित्यमहोपाध्याय प्रो० पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पङ्कज' बी० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ, सा० व्या० न्यायाचार्य, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार) १०८०
२१६–विश्व-तरु [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· १२५७
२१७–विश्व-प्रकृतिका रूप और स्वरूप (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, एम्० ए०) ११७८, १२४३
२१८–विश्वरूप भगवान् (श्रीविश्वनाथजी महिन्दु) ९२७

२१९–विश्व-शान्तिका उपाय (श्रीश्रीनिवासदासजी-पोद्दार) ··· ··· ११५८
२२०–विषय-त्याग [संगृहीत] (आत्मप्रबोध०) ६८१
२२१–वीतराग महात्मा श्रीसेवारामजी महाराजके उपदेश ··· ··· १३५६
२२२–वेदवेत्ता [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· ११९०
२२३–वेदों और उपनिषदोंमें मांस-भक्षण और अश्लीलता नहीं है (पाण्डेय पं० श्रीराम-नारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· १२१
२२४–वैदिक साहित्यका परिचय (पं० श्रीराम-गोविन्दजी त्रिवेदी) ··· ८०२, ८६७
२२५–वैशेषिक दर्शन और ईश्वर (श्रीमती सुशीला-देवीजी) ··· ··· ११८८
२२६–वैष्णव-उपनिषद् (पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम्० ए०, साहित्याचार्य) ··· १०९
२२७–शरणागति [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· १४०५
२२८–शान्तिकी खोज (साधुवेषमें एक पथिक) ··· ८१५
२२९–शिवका उपासक धन्य है [संगृहीत] (दक्षिणामूर्ति०) ··· ··· ७६५
२३०–शुकरहस्योपनिषद् ··· ··· ७१०
२३१–श्रद्धाका बीज बोयें ··· ··· १२२८
२३२–श्रीअरविन्दका अमेरिकाको संदेश ··· १३७५
२३३–श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन ··· ७८५, ८४८, ९११, ९७४, १०४१, ११०२, ११६७, १२३३, १२९४, १३६६
२३४–श्रीकृष्णोपनिषद् ··· ··· ६९५
२३५–श्रीगीता-रामायण-प्रचार-सङ्घका निवेदन (संयोजक) ··· दूसरे अङ्कके टाइटलका तीसरा पृष्ठ
२३६–श्रीनारायणके ध्यानसे मुक्ति [संगृहीत] (आत्मप्रबोध०) ··· ··· ६९२
२३७–श्रीभगवन्नाम-जपके लिये सादर प्रार्थना (हनुमानप्रसाद पोद्दार) दसवें अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
२३८–श्रीभागवत-धर्म-प्रश्नोत्तरी (श्रीजयनारायणजी मल्लिक एम्० ए०, डिप्० एड्०, साहित्याचार्य) १४०२
२३९–श्रीराधिकातापनीयोपनिषद् ··· ··· ६६०
२४०–श्रीराधोपनिषद् ··· ··· ६६२
२४१–श्रीरामचरितमानसका तापस-प्रसंग (श्रीज्ञान-वतीजी त्रिवेदी) ··· ··· ८९६
२४२–श्रीरामनामका भरोसा (श्रीश्रीकान्तशरणजी) ११२१
२४३–श्रीरामनामामृतम् (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· १४४६
२४४–श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद् ··· ··· ५३१
२४५–श्रीरामानुजाचार्यका विशिष्टाद्वैतवाद (साहित्य-महोपाध्याय पं० श्रीजनार्दनजी मिश्र 'पङ्कज' साहित्य-व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, बी० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार) ··· ७८८
२४६–श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद् ··· ··· ५४२
२४७–श्रीरामोपनिषद् ··· ··· ६९३
२४८–श्वेताश्वतरोपनिषद् ··· ··· ३६३
२४९–सङ्गका त्याग ही मोक्ष है [संगृहीत] (अन्नपूर्णोपनिषद्) ··· ··· ६५६
२५०–सन्तोषकी साधना (साधुवेषमें एक पथिक) ··· १०६२
२५१–संसारका वास्तविक स्वरूप (श्री १००८ श्रीपूज्य स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज) ··· ७७९
२५२–संसारमें ऐसे दो प्रकारके पुरुष विरले ही होते हैं (संगृहीत) ··· ··· ४०
२५३–संसारमें मनुष्यका वास्तविक शत्रु (डा० महम्मद हाफिज सैयद एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०) ··· ··· ८३७
२५४–संस्कृति और धर्मका घातक हिंदू-कोड-बिल ९००
२५५–सकाम उपासना (श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा) १०६४
२५६–सकाम उपासना (आस्तिक क्या करें) (पं० श्रीकाकूभाई दुर्गाशंकर दवे, साहित्या-चार्य, विद्यालङ्कार) ··· ··· १२६४
२५७–सत्यकी जय है [संगृहीत] (मुण्डक०) ··· ६०२
२५८–सत्यचिन्तन (साधुवेषमें एक पथिक) ··· १३१८
२५९–सनातन धर्ममें सत्यका समुचित स्थान (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ··· ··· १०५१
२६०–सब ब्रह्म है [संगृहीत] (छान्दोग्य०) ··· ६४८
२६१–समयका सदुपयोग (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ९५६
२६२–समयका सदुपयोग ··· ··· १२९१
२६३–समयकी सार्थकता (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १४१९
२६४–सरस्वतीरहस्योपनिषद् ··· ··· ६४२
२६५–सांस्कृतिक ह्रासके कारण (योगिराज महर्षि स्वामी श्रीमाधवानन्दजी महाराज) ··· १३०२
२६६–साधक और साधना (श्रीराजेन्द्रकुमार जैन 'विशारद') ··· ··· १२१६

२६७–साधन और साध्य [कहानी] (श्री 'चक्र') ··· १३२०
२६८–साधन-सर्वस्व (श्रीबाबूलालजी गुप्त 'श्याम') १०३०
२६९–साधुका स्वभाव [संगृहीत] ··· ९६
२७०–साधु कौन हैं ··· पाँचवें अङ्कके टाइटलका तीसरा पृष्ठ
२७१–सावित्र्युपनिषद् ··· ··· ६८२
२७२–सीतोपनिषद् ··· ··· ६५७
२७३–सूर्योपनिषद् ··· ··· ६८४
२७४–सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् ··· ··· ६५०
२७५–स्वधर्म-पालनकी आवश्यकता (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ··· ··· १२३९
२७६–हमारा जगत् ··· ··· ११६३
२७७–हिंदू-कोड-बिल ··· चौथे अङ्कके टाइटलका तीसरा पृष्ठ
२७८–हिंदू-कोड-बिल [कहानी] (स्वामी श्रीपारसनाथजी सरस्वती) ··· ··· १२००
२७९–हिंदू-कोड-बिलकी आलोचना (अन्वेषक श्रीशिवपूजनसिंहजी कुशवाहा 'पथिक' सिद्धान्तशास्त्री, साहित्यालङ्कार) ··· ११५४
२८०–हिंदू-कोड-बिलपर सम्मतियाँ (स्वामीजी श्रीकरपात्रीजी महाराज) (श्रीअलगूरामजी शास्त्री एम्० एल्० ए०) ··· छठे अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
२८१–हिंदू-संस्कृति-अङ्क (सम्पादक) ··· १२२१
२८२–हिंदू-संस्कृतिकी आधार-भूमि (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ··· ··· १२८०
२८३–हिंसामय आसुरी आहारकी योजना ('सार्वदेशिक') ··· ··· १२८८
२८४–होलीका आध्यात्मिक महत्त्व (श्रीरामचन्द्रजी गौड़, एम्० ए०, बी० टी०, विशारद) ··· ८९४
२८५–ज्ञानमयी दृष्टि [संगृहीत] ··· ··· ६३३

पद्य-सूची

१–अंजनीकुमारकी गुणगाथा (श्रीजनार्दनजी झा 'जनसीदन') ··· ··· ११९४
२–अध्यात्मवाद (पं० श्रीरघुनाथप्रसादजी शास्त्री 'साधक') ··· ··· १५७
३–अनुकम्पानुनय (पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी 'निधिनेह') ··· ··· १०९४
४–आवाहन (श्रीरामलालजी बी० ए०) ··· ११७४
५–उनका पता (बाबा श्रीमङ्गलदासजी) ··· १४३१
६–उपनिषद् (पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी) ··· १७
७–उपनिषत्सार (श्रीभवदेवजी झा) ··· १४०
८–उपनिषन्महत्ता (विद्याभूषण कविवर श्रीॐकार मिश्र 'प्रणव' व्या० सा० योगशास्त्री, सिद्धान्तशास्त्री) ··· ··· ८
९–औपनिषद-ब्रह्मका सर्वातीत और सर्वकारणस्वरूप तथा उसके जाननेका फल [उपनिषदोंके ग्यारह मन्त्रोंका पद्यानुवाद] (अनुवादक पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· २
१०–औपनिषद-सिद्धान्त ··· ··· १२०
११–कामना (श्रीजयनारायणजी मल्लिक एम्० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यालङ्कार) ··· १०६७
१२–कामना ही पापकी जड़ है ··· ··· ८४१
१३–किसके द्वार जायँ (श्रीव्यासजी) ··· ८०७
१४–कैसे सामवेद गावैगो (श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') ··· ··· १४८०
१५–जगदम्बासे (पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न) १००५
१६–जाऊँ कैसे (श्रीप्रबोध, बी० ए० (आनर्स), साहित्यरत्न, साहित्यालङ्कार) ··· १३१
१७–जीवनकी नश्वरता (पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी) ··· ··· ११८५
१८–जीवन जलके बुद्बुदेके समान है ('रत्नाकर') ७८०
१९–जीवन-दर्शन (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा) ··· १२७५
२०–जैन उपनिषदोंका सार (श्रीसूरजचन्दजी सत्यप्रेमी 'डाँगीजी') ··· ··· १४६
२१–ज्योतिपुंज वह पाया मैंने (श्रीभागवतप्रसादसिंहजी) ··· ··· १२
२२–त्वमेव सर्वम् (श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी, विशारद, काव्यतीर्थ, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०) ··· ··· १००
२३–दीनबन्धुका दरबार ('शेख') ··· १११४
२४–दुःखसे तरनेका उपाय (श्रीनानकजी) ··· ७८४
२५–ध्यानस्थ योगी ··· ··· १३५३
२६–नटवर जमुनातटपर (श्रीसूरदासजी) ··· १०९७
२७–परवशता (सम्मान्य पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी) ··· ·· ९७३
२८–पाप मेरे (श्रीव्रजलालजी वर्मा, एम्० ए०) ८९५
२९–पुण्य-पद (लाला श्रीजगदलपुरीजी) ··· १३०१
३०–प्राण गये पछितैहौ (संत रैदासजी) ··· ११७७
३१–प्राणाधार हरि (मीराबाई) ··· १२०३
३२–प्रोत्साहन (पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी) ··· १२२७
३३–बिछुड़न-मिलन (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा) ··· ९६२
३४–ब्रह्मज्योति (पं० श्रीरूपनारायणजी चतुर्वेदी) ··· १३५६
३५–भजन कर ले (श्रीकबीरदासजी) ··· १४५८
३६–भजन बिना देह व्यर्थ है (श्रीसूरदासजी) ··· १४६४

३७—भगवान्‌का स्वभाव (गीतावली)······आठवें अङ्कके टाइटलका चौथा पृष्ठ
३८—मुक्तिके द्वार (श्रीलक्ष्मीप्रसादजी मिश्री 'रमा') ··· ··· २५
३९—मेरे हिय हुलसैं (श्रीजनार्दनजी झा 'जनसीदन') १०९६
४०—योगभ्रष्टका जन्म ··· ··· १०३३
४१—रस-ब्रह्म (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· २०
४२—राम-झरोखा (जय गौरीशंकर सीताराम) ··· ११६०
४३—राम-भक्तके लक्षण [सङ्कलित] (दोहावली) ··· १४५६
४४—राम-भजन (महात्मा जयगौरीशङ्कर सीताराम) १४४९
४५—राम-रंग (श्रीनयनजी) ··· १४२६
४६—वही बचेगा (श्रीभारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी) ··· ८२४
४७—विनती (श्रीसूरदासजी) ··· ··· ११९८
४८—व्यथित मनसे (लाला जगदलपुरीजी) ··· ९१५
४९—शरणागति (उपनिषद्‌के एक मन्त्रका पद्यानुवाद) ··· ··· ··· १
५०—शिव और शक्ति (श्रीलक्ष्मीनारायणजी शर्मा 'मुकुर') ··· ··· ··· १६
५१—श्रीकृष्ण-स्तुति (श्रीओंकारदत्तजी)······तीसरे अङ्कके टाइटलका तीसरा पृष्ठ
५२—श्रीरघुनाथजीकी रूप-माधुरी (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) ··· ··· ११६१
५३—सदा रामकी गति (गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी) १३६५
५४—सब प्राणियोंमें आत्मा और आत्मामें सब प्राणी (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ··· ९६९
५५—सर्वभूतहित-तत्पर योगी (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम') ··· ९०५
५६—साध (श्रीभवदेवजी झा) ··· ··· ९३१
५७—सीताकी खोजमें (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ··· १२२५
५८—सेवक-सुखदाता ··· ··· १२८९
५९—सेवाके आदर्श ··· ··· ७७७
६०—ज्ञानखड्ग (श्रीमद्भगवद्गीता) ··· १४१७

चित्र-सूची

रंगीन

१—अङ्गिरस और शौनक ··· २६०
२—ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं··उपनिषद्-अङ्कका टाइटल
३—काम और क्रोध ··· ८४१
४—दिव्यलोकमें श्रीकृष्ण ··· १
५—ध्यानस्थ योगी ··· १३५३
६—नटवर यमुनातटपर ··· १०९७
७—पिप्पलादके आश्रममें सुकेशादि मुनि ··· २६०
८—प्रार्थना ··· १६१
९—भगवान् श्रीगोविन्द ··· ५६३
१०—भगवान् श्रीरामचन्द्र ··· ५३३
११—यज्ञशालामें उषस्ति ··· ४२७
१२—योगभ्रष्टका जन्म ··· १०३३
१३—रैक्व और जानश्रुति ··· ४२७
१४—श्रीगणपति ··· ६९२
१५—श्रीरघुनाथजीकी रूपमाधुरी ··· ११६१
१६—श्रीश्रीमहालक्ष्मी ··· ६५१
१७—श्रीसरस्वती ··· ६४४
१८—सच्चिदानन्द नारायण ··· ५६३
१९—सच्चिदानन्दमयी देवी ··· ६४७
२०—सब प्राणियोंके हितमें तत्पर योगी ··· ९०५
२१—सब भूतोंमें आत्मा और आत्मामें सब भूत ··· ९६९
२२—सीताकी खोजमें ··· १२२५
२३—सेवक-सुखदाता श्रीसीतारामजी ··· १२८९
२४—सेवाके आदर्श श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजी ··· ७७७
२५—ज्ञानखड्ग ··· १४१७

इकरंगे

१—अग्निकी असमर्थता ··· १७८
२—गोपाल-यन्त्र ··· ५५२
३—जगत्कारण-मीमांसा ··· ३६३
४—जनक-याज्ञवल्क्य ··· ४८८
५—देवताओंके सामने यक्षका प्राकट्य ··· १७८
६—नचिकेताको मृत्युके अर्पण करना ··· १८८
७—ब्रह्मचारियोंको याज्ञवल्क्यका आदेश ··· ४७६
८—भगवती उमा और इन्द्र ··· १८१
९—मैत्रेयीको उपदेश ··· ४४९
१०—यमराज और नचिकेता ··· १८८
११—वरुण और भृगु ··· ३६३
१२—राजा अश्वपतिके भवनमें उद्दालक ··· ४३६
१३—श्रीराम-यन्त्र ··· ५३६
१४—सत्यकाम और उपकोशल ··· ४३६
१५—सनत्कुमार-नारद-संवाद ··· ४४९
१६—सुदर्शन महाचक्र ··· ५७६

श्रीहरिः

पुराने और नये ग्राहकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

१—यह तेईसवें वर्षका अन्तिम बारहवाँ अङ्क है। इस अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है।

२—चौबीसवें वर्षका पहला अङ्क 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' होगा। पूरे वर्षका मूल्य ७॥) होगा। डाकमहसूल अलग नहीं लगेगा। विशेषाङ्कका अलग मूल्य ६॥) है। अतः पूरे वर्षके लिये ही ग्राहक बनना चाहिये।

३—'विशेषाङ्क' आगामी जनवरीके अन्ततक प्रकाशित होकर ग्राहकोंकी सेवामें भेजना आरम्भ कर दिया जाय, ऐसा प्रयत्न हो रहा है। सवा लाखसे अधिक प्रतियाँ छपती हैं। तिरंगे चित्रोंके छपनेमें भी बहुत समय लगता है। इसलिये सम्भव है दो-तीन सप्ताह और अधिक लग जायँ।

४—मनीआर्डरसे रुपये भेजनेवाले महानुभावोंको चाहिये कि यदि भेजनेकी तारीखसे डेढ़ मासतक हमारे कार्यालयकी सही की हुई रसीद न मिले तो स्थानीय डाकघरमें शिकायत कर दें। रुपये भेजनेकी तारीखसे तीन महीनेके अंदर शिकायत नहीं की जायगी तो डाक-विभागकी ओरसे कोई सुनवायी नहीं होगी। साथ ही हमें भी पत्र लिखकर पूछ लेना चाहिये।

५—पत्र-व्यवहारमें और रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नंबर जरूर लिखनेकी कृपा करें। ग्राहक-नंबर न याद हो तो मनीआर्डर-कूपनमें कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य ही लिख दें। नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें।

६—'ग्राहक-नंबर' न लिखनेसे आपका नाम 'नये ग्राहकोंमें' दर्ज हो जायगा। इससे आपकी सेवामें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' नये नंबरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नंबरकी वी० पी० दुबारा जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों, और उनके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी० पी० चली जाय। दोनों ही सूरतोंमें आपसे यह प्रार्थना है कि आप कृपापूर्वक वी० पी० लौटावें नहीं। चेष्टा करके कृपया नया ग्राहक बनाकर उनके नाम-पते साफ-साफ हमें लिखनेकी कृपा करें।

७—जिन महानुभावोंको किसी कारणसे ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक मनाहीका एक कार्ड लिख दें। ऐसा करनेसे उनके सिर्फ तीन पैसे खर्च होंगे, पर 'कल्याण-कार्यालय' कई आने डाकखर्चके नुकसानसे और समयके अपव्ययसे बच जायगा।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

गीता-डायरी सन् १९५० ई०

साइज २०×३० बत्तीसपेजी, साधारण जिल्द, दाम ॥=), डाकखर्च ।≡); भारत-सरकारकी कागज-नियन्त्रण-आज्ञाके डायरी-मुद्रणसम्बन्धी नियममें अभीतक कोई परिवर्तन न होनेके कारण इस साल भी तिथियोंके पृष्ठोंके अतिरिक्त अन्य उपयोगी बातें अधिक न दी जा सकीं। केवल नित्य-प्रार्थना, अमूल्य शिक्षाएँ, संतवाणी, आत्मोन्नतिके मुख्य साधन, भक्त, गीताका मनन शीर्षक उपदेश और 'वन्दे नंदनंदनं देवं' का एक चित्र दिया गया है।

दो प्रतियोंके लिये मूल्य १।), पैकिंग और डाकखर्च ॥-) कुल १॥-), तीनके लिये मूल्य १॥=), पैकिंग-डाकखर्च ॥=), कुल २॥); छःके लिये मूल्य ३॥), पैकिंग-डाकखर्च ॥।≡), कुल ४॥≡); आठके लिये मूल्य ५), पैकिंग-डाकखर्च १-) कुल ६-) और बारह प्रतियोंके लिये मूल्य ७॥), पैकिंग तथा डाकखर्च १।≡) सहित कुल ८॥।≡) मनीआर्डरसे भेजना चाहिये।

यहाँ आर्डर देनेसे पहले अपने शहरके पुस्तक-विक्रेतासे माँगिये। इसमें आपको पैसे तथा समय दोनोंकी बचत हो सकती है।

श्रीरामचरितमानस—मझला साइज

(सटीक, सचित्र, महीन टाइप, तीसरा संस्करण)

कागज-प्राप्तिकी परिस्थिति सुधर जानेसे यह संस्करण पहले संस्करणकी तरह ही २२×२९ सोलह-पेजी साइजमें छापा गया है। मूल्य ३॥)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

रजि० सं० ए० १७५

गोवधको दूसरा एक और प्रोत्साहन !

देशवासियोंका कर्तव्य

बम्बईके पास बननेवाले कसाईखानेके प्रस्तावकी बात 'कल्याण' के पाठक गताङ्कमें पढ़ चुके हैं। अब गोवधको प्रोत्साहन देनेवाला एक और अनर्थकारी कुसंवाद मिला है। भारत-सरकार-द्वारा मुद्राका मूल्य घटाये जानेपर देशके निर्यात व्यापारकी वृद्धिके उपाय बतलानेके लिये एक कमेटी बनायी गयी थी। उस कमेटीने अन्य सिफारिशोंके साथ एक इस आशयकी सिफारिश भी बड़े जोरोंसे की है कि 'देशके खालोंकी निकासीका व्यापार इस वर्ष पहलेकी अपेक्षा घट रहा है और इसका कारण कुछ प्रान्तीय सरकारोंद्वारा पशु-वधपर लगाये हुए नियन्त्रण हैं। अतः इस व्यापारकी वृद्धिके लिये भारत-सरकारको चाहिये कि वह प्रान्तीय सरकारोंसे कहे कि वे पशु-वधपर रोक न लगावें।'

यह भी सुना गया है कि भारत-सरकार इस सिफारिशके अनुसार कार्य करने जा रही है! दूध-घी, जो मानव-जीवनके लिये परमावश्यक खाद्य हैं, दुर्लभ हो गये हैं। बच्चोंकी मृत्यु-संख्या दूधके अभावसे बढ़ी जा रही है और इधर आर्थिक लाभकी दृष्टिसे खालोंकी निकासीके लिये पशु-वधपर रोक हटानेकी सिफारिश की जा रही है! पता नहीं मूक पशुओंके रक्तसे सने और दूध-घीके अभावसे भारतके नर-नारियोंकी मृत्युमें कारणरूप जघन्य अर्थसे देशका क्या मङ्गल होगा। कहाँ तो वर्षोंसे यह सोचा जा रहा था कि चमड़े-खालका निर्यात सर्वथा बंद कर दिया जाय और यह विश्वास था कि देश स्वतन्त्र होनेपर यह अवश्य हो जायगा। (गतवर्ष देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजीसे एक डेप्युटेशन मिला था, उसमें पंजाबके पुराने कांग्रेस-कार्यकर्ता लाला हरदेवसहायजी और युक्तप्रान्तके प्रसिद्ध कांग्रेस-नेता बाबा राघवदासजीने आँखोंमें आँसू भरकर यह कहा था 'कि हमलोगोंने जनताको विश्वास दिलाया था कि स्वराज्य होनेपर गोवध बंद हो जायगा। अब उसे हम क्या उत्तर दें।') और कहाँ अब बहुत-बहुत प्रयत्नोंके पश्चात् कई प्रान्तोंने जो पशु-वधपर कुछ प्रतिबन्ध लगाये हैं उन्हें उठा देनेकी चर्चा हो रही है! 'कल्याण' के पाठकोंने गो-अङ्कमें यह पढ़ा ही होगा कि सरकारी रिपोर्टके अनुसार सन् १९४० में ५२७०००० केवल गो-जातिके पशु काटे गये थे। उसके बाद तो यह संख्या और भी बढ़ी थी। यह जान रखना चाहिये कि कसाईखानोंमें अधिक पशु खालोंके लिये ही काटे जाते हैं। खालोंकी निकासी बंद हो जाय तो कसाईखानोंकी गोहत्या अपने-आप ही घट जायगी। ये सब बातें जानने-सुननेपर भी, पता नहीं हमारे अग्रगण्य पुरुषोंको क्या सूझ रही है कि उनके द्वारा गोवधको कानूनी तौरसे कतई बंद करनेकी बात तो दूर रही—गोवधको प्रोत्साहन मिले, ऐसे प्रयत्न हो रहे हैं! भगवान् जानें, देशकी क्या दशा होनेवाली है! यदि वस्तुतः हिंदुओंमें कुछ भी सच्ची देशहितैषिता और धार्मिकता शेष है तो उन्हें इन अनिष्टकारी कार्योंका घोर विरोध करना चाहिये। हमारी अपने माननीय पत्रकार बन्धुओंसे भी विनीत प्रार्थना है कि वे नये बूचड़खानेके प्रस्ताव और खालके निर्यातके लिये प्रान्तीय सरकारोंद्वारा लगाये हुए प्रतिबन्धको हटानेका घोर विरोध कर देशवासियोंके तथा लाखों मूक पशुओंके आशीर्वादके भागी बनें।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार
